* ओ३म् *

मैं

और

मेरा भगवान्

लेखक—

पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय एम० ए०

— आस्तिकवाद आदि पुस्तकों के लेखक —

प्रकाशक—

राजपाल ऐंड सन्स

आर्य्य पुस्तकालय, हस्पताल रोड,

लाहौर

मूल्य

प्रकाशक—
शिवनाथ एम. ए.
आर्य्य पुस्तकालय,
अनारकली लाहौर

मुद्रक—
श्री प्रकाशचन्द
दी आर्य प्रैस, लिमिटेड,
१७, मोहनलाल रोड, लाहौर।

* ओम् *

अनुवादक के दो शब्द

प्रस्तुत पुस्तक पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय की अंग्रेज़ी पुस्तक I And My God का अनुवाद है। उपाध्याय जी हिन्दी और अंग्रेज़ी के लब्धप्रतिष्ठ लेखक हैं। आस्तिकवाद आदि अनेक पुस्तकें उनकी कीर्त्ति को बढ़ा रही हैं। पुस्तक रोचक ढंग से लिखी गई है, तर्क और युक्तियों से भरपूर होने पर भी बोझल नहीं है। यत्न किया गया है कि अनुवाद की भाषा सरल हो।

पुस्तक में यद्यपि जीव ब्रह्म का विचार किया गया है तथापि जीवसिद्धि पर अधिक बल दिया गया है और यह उचित भी है। यदि यह सिद्धि हो जाए कि 'मैं' कुछ नहीं, तो शेष की सत्ता हो न हो, मेरा उससे कोई प्रयोजन नहीं रहता। जीव ब्रह्म की विवेचना का विचार संसार के कारण उठता है। संसार की पहेली को सुलझाने के यत्न का नाम ही दर्शन-शास्त्र है। ग्रन्थकार ने इस प्रसंग में भारत के प्रसिद्ध दार्शनिकों—श्री शङ्कराचार्य्य, श्री रामानुचार्य्य आदिकों—के सिद्धान्तों का विवेचन करते हुए पाश्चात्य दार्शनिकों के वादों की भी समालोचना की है, तर्क और युक्ति से वैदिक सिद्धान्त की पुष्टि की है। नवीन वेदन्तियों तथा उन्हीं के से

विचार वाले पश्चिमी दार्शनिकों ने अद्वैतवाद के समर्थन में जो हेतु दिए हैं ग्रन्थकार ने मनोरम रीति से उनकी असारता दिखलाई है। अन्तिम अध्याय में ग्रन्थकार ने असीम भावुकता का परिचय दिया है, मानों कठोर तर्क के आघातों से प्रताडित पाठकों को द्रवीभूत करना चाहते हैं, और उन्हें भी अपने साथ भावुकता के प्रवाह में बहा ले जाना चाहते हैं।

ग्रन्थ का 'मैं' या आत्मा की सत्ता की सिद्धि से प्रारंभ हुआ है, और अन्त वैदिक वाक्य 'त्वमस्माकं तव स्मसि'=तू हमारा है हम तेरे हैं, पर हुआ है। मानों अपने अहंकार का संहार करने के लिए ग्रन्थकार सबको प्रभु के आगे आत्मसमर्पण करने की शुभसम्मति प्रदान कर रहे हैं। मूलग्रन्थकार की ही प्रेरणा से इस ग्रन्थ का भाषान्तर कराया गया है ताकि राष्ट्रभाषाभाषी इसके रसास्वाद से वञ्चित न रह जाएँ। आशा है, राष्ट्रभाषाभाषी इसको अपनाकर यथेष्ट लाभ उठाएंगे। प्रभु सबको आत्मस्वरूप जानने की सुप्रेरणा करें।

ओं शम्

वेदानन्द तीर्थ

गुरुदत्त भवन लाहौर।

प्रथम अध्याय

अहमस्मि

(मैं हूं)

यदि मनुष्य को किसी बात का पक्का निश्चय है, तो वह यह विश्वास है कि 'मैं हूं'। आप किसी भी विषय पर सन्देह कर सकते हैं, किन्तु 'अपने होने' में आप को सन्देह नहीं हो सकता। यदि आप को इस में भी सन्देह होने लगा, तो आप अपने मस्तिष्क की शुद्धि पर सन्देह करने लगेंगे। अपने होने का ज्ञान किसी तर्क वितर्क पर आश्रित नहीं है। यह स्वसंवेद्य अर्थात् स्वतः—सिद्ध है।

डेकार्ट ने कहा है-Cogito ergo sum अर्थात् 'चूंकि मैं सोचता हूं इस वास्ते मैं हूं।' मेरे विचार में यह प्रत्यक्ष विश्वास नहीं है। यह अनुमान है। डेकार्ट विचारने की क्रिया से अपने होने का अनुमान करता है, किन्तु यह पूर्णतया मनोवैज्ञानिक नहीं है। यह विचार तभी तर्कानुमोदित बनता है, जब मनुष्य विचारने की क्रिया और अपने विचारों का विश्लेषण करने लगता है। सचमुच, मन की सारी क्रियाओं—विचारों, इच्छाओं और भावनाओं—के मूल में अपनी सत्ता अथवा अपने होने का विश्वास है। मेरी विचारक्रिया मेरी सत्ता पर आश्रित है, न कि इस से उलट; अर्थात् मेरी सत्ता मेरी विचार-

क्रिया पर आश्रित नहीं है। यदि 'मैं=अहम्' न हो तो कोई विचार ही नहीं हो सकता। चेतनाधारा सत्य असत्य, यथार्थ अयथार्थ, भले बुरे से पहले ही विद्यमान होती है।"*

'समस्त प्रमाणों का आधारभूत आत्मानुभव स्वतः प्रमाण है, अतः आत्मा की सत्ता के सिद्ध करने की कोई आवश्यकता नहीं।'

"जब मैं जानता हूं, तो उस जानने का कोई विषय होता है। अर्थात् मैं उस विषय का ज्ञाता होता हूं। मैं वह सत्तावाला=सत् हूँ, जो ज्ञाता है। यह ज्ञान मुझ पर अवलम्बित है, मेरी सत्ता उस ज्ञान के अधीन नहीं है। "समझ=बुद्धि का होना और उस के कार्यों का होना अपने से पूर्व विद्यमान ज्ञानाधार 'आत्मा' की सत्ता की कल्पना करते हैं। यह आत्मा उन से भिन्न है, यह स्वतःसिद्ध स्वयंभू है, और बुद्धि आदि उस के साधन हैं।"†

चाहे कोई कितना ही अपठित क्यों न हो, उसे अपनी सत्ता पर सन्देह नहीं होता। पशुओं तक को अपनी सत्ता का विश्वास होता है और वे इस से चिमटे रहते हैं। तब प्रश्न होता है कि ऐसा सुप्रतिष्ठित एवं स्वतःसिद्ध निर्विवाद सत्य विवादास्पद क्यों बनाया जाए। इस का उत्तर यह है, कि जब हमने आत्मा के स्वभाव की जांच आरंभ की, तो हम ने मूल में भूल की। हम ने वृक्ष की शाखाओं को वृक्ष की जड़ का आधार समझा। जहां निपट अज्ञानी सीधा चलता रहा, दार्शनिक ज्ञानी ठोकर खा बैठे क्योंकि

---

*Radhakrishanan's Indian Philosophy Vol II P. 476

†. सुरेश्वरकृतवार्त्तिक PP 289, & 542, 791-795 quoted by Radhakrishanan

'स्वभाव' के विश्लेषण की धुन में वे किसी और वस्तु को पकड़ बैठे और 'स्वभाव' उन के हाथ से निकल गया। डेकार्ट के 'अपनी सत्ता का आधार विचार' सिद्धान्त ने ह्यूम को अपनी सत्ता से इनकार करने पर तय्यार किया। वह (ह्यूम) कहता है—"कुछ दार्शनिक यह कल्पना करते हैं कि हम हर घड़ी 'आत्मतत्त्व' के गहरे सम्पर्क में रहते हैं, और हम इसकी सत्ता तथा इसकी सत्ता के नैरन्तर्य्य को अनुभव करते हैं। और इसकी पूर्ण प्रत्यभिज्ञा और सादगी के विषय में, प्रमाणों से निरपेक्ष होकर भी, विश्वास करते हैं..........किन्तु मेरी अवस्था यह है कि मैं उस में जिसे 'आत्मा या मेरी सत्ता' कहा जाता है जब तादात्म्य भाव से प्रवेश करता हूं, तब मैं किसी न किसी अनुभूति—यथा शीत या उष्ण, प्रकाश या अन्धकार, राग या द्वेष, दुःख या सुख—से टकरा जाता हूं। मैं इन अनुभूतियों के अतिरिक्त 'अपने आत्मा' को कभी ग्रहण नहीं कर पाता, और अनुभूति के अतिरिक्त किसी वस्तु का साक्षात्कार नहीं कर पाता।"*

कितनी दयनीय दशा है। ह्यूम 'अपने आत्मा' 'अपने आपा' को पकड़ना चाहता है किन्तु किसी और वस्तु से टकरा जाता है, आत्मा सदा उसके हाथ से निकल जाता है। सच बात यह है कि आत्मा तो स्वयंभू=स्वतःसिद्ध है किन्तु डेकार्ट ने इसे विचार=ज्ञान के आधार से सिद्ध करना चाहा। ह्यूम को उसके चरणचिह्नों पर चलते हुए भान हुआ, कि विचार या विचार के तत्त्व 'आत्मा' नहीं। देखिए उसकी विचारधारा—"किन्तु, इस प्रकार के कुछ अध्यात्मवादियों की बात छोड़ कर, मैं मनुष्यमात्र के संबन्ध में

---

* Hume's Treatise of Human Nature, Bk 1, Part IV: 6 (P .251)

कहने का साहस करता हूं कि **वे भिन्न भिन्न अनुभूतियों के समूह या ढेर के अतिरिक्त कुछ नहीं,** वे विचार अप्रतर्क्य शीघ्रता से एक के पीछे दूसरा आते हैं, और निरन्तर प्रवाहित और गतिमान् है। मन एक प्रकार की रंगशाला (Theatre) है, जहां नाना अनुभूतियां क्रमशः दर्शन देतीं; चली जातीं, फिर जातीं, खिसक जाती और अनन्त प्रकार की स्थितियों में मिल जाती हैं। किसी एक समय में इन में कोई सादगी नहीं है, और न ही किसी दूसरे समय इस में तत्ता=Identity है। चाहे उस सादगी और तत्ता की कल्पना करने में हमारी कैसी ही रुचि क्यों न हो। रंगशाला की उपमा से हमें भ्रम नहीं होना चाहिए। वे केवल क्रमिक अनुभूतियां ही है, वही मन हैं। हमें यह सुदूर की कल्पना भी नहीं कि कोई ऐसा आधार है, जहां ये दृश्य होते हैं, और कि कोई ऐसी सामग्री है, जिससे इनका निर्माण होता हैं।"*

ह्यूम का यह कथन क्या उस मनुष्य के सदृश नहीं है, जिस ने नदी को पकड़ने के लिए उसकी लहरों को पकड़ने का यत्न किया, किन्तु सफल न होने पर नदी की सत्ता से ही इनकार कर बैठा। ह्यूम ने आत्मा को अपने हाथ से पकड़ना चाहा, किन्तु जब उस का हाथ आत्मा से नहीं वरन् किसी कठोर या नरम वस्तु से टकराया, तो उसने आत्मा की सत्ता से ही इनकार कर दिया। उस ने आत्मा को आंखों से देखना चाहा, किन्तु जब उसकी आंखें, आत्मा से नहीं वरन् किसी रूप या दृश्य से टकरायीं; तो वह आत्मासत्ता से ही इनकार कर गया। उसने आत्मा को कानों से सुनना चाहा, किन्तु जब उस के कान किसी शब्द से, न कि आत्मा से, टकराये

* Hume's Treatise of Human Nature.

तो वह आत्मा की सत्ता से ही इनकार कर बैठा। उसने आत्मा को मन से ग्रहण करना चाहा, किन्तु जब उस का मन आत्मा से नहीं वरन् किसी विचार या अनुभूति से टकराया, तब वह कह उठा कि अनुभूतियों के ढेर के परे आत्मा के समान तत्ता और सादगी वाली कोई वस्तु नहीं है। पहले तो वह उत्तेजना में आकर मन को एक रंगशाशा कहता है जिस में नाना विचार क्रम से दर्शन देते, चले जाते, फिर जाते, खिसक जाते और नाना प्रकार की अवस्थाओं में मिल जाते हैं। मानो वह नदी का पेटा है, जिससे जलधारा बह रही है। किन्तु शीघ्र ही वह अपने को अपने जाल में फंसा अनुभव करता है, और अपने संशयात्मक सिद्धन्त के साथ एकरसता रखने के लिए इस प्रकार कहने लगता है कि, 'रंगशाला की उपमा से हमें भ्रम नहीं होना चाहिए।' क्यों कि 'उसे जहां ये दृश्य हो रहे हैं, उस स्थान की सुदूर कल्पना भी नहीं है।' चूंकि उसे उस स्थान की कल्पना नहीं है, इस वास्ते वह उस स्थान की सत्ता से ही इनकार कर देता है। उसे दृश्यदर्शन तो होता है। किन्तु वह दृश्यों में ऐसा उलझा है, कि वह उस स्थान को, जहां ये दृश्य घटित होतेहैं, भूल जाता है। उस के मत में दृश्य तो हैं,किन्तु **कहीं नहीं**,अर्थात आधार के विना हैं। क्योंकि स्थाननामक पदार्थ ही जब नहीं तो **कहां** का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। ह्यूम अपनी मानसिक अवस्था अथवा अपने निजी स्वभाव की उपेक्षा कर जाता है। वह क्या वस्तु है, जो उसे बार बार 'मैं' का प्रयोग करने पर विवश करती है। 'मैं' यह करता हूं, 'मैं' वह करता हूं। यह 'मैं' है क्या ? विचारों का ढेर मात्र!!! सर्वथा नहीं। 'विचार' तो विचारने से होता है, विचारक=विचारने वाला विचार नहीं है। ह्यूम कहता है कि 'यदि कोई गंभीर और निष्पक्ष चिन्तना से ऐसा निश्चय करता है कि **आत्मा** के संबन्ध में

उस के विचार भिन्न हैं, तो मैं उस के साथ तर्क नहीं कर सकता, कदाचित् वह किसी सादे और निरन्तर रहने वाले तत्व का, जिसे वह **आत्मा** कहता है, अनुभव भी करे, यद्यपि **मुझे निश्चय है** कि मुझ में ऐसा कोई तत्त्व नहीं है।"

पाठकों के हम इन सन्दर्भों को विशेषकर जिन वाक्यों में स्थूलाक्षर शब्द हैं, बार बार पढ़ने और इनका अभिप्राय समझने का यत्न करने का अनुरोध करेंगे। '**मुझे निश्चय है**' इस दृढ़-धारणा पर ध्यान दीजिए। किस का निश्चय ? अपने मैं-पन=अहंता के अनिश्चय का निश्चय ! क्या इस सिद्धान्त से स्वयं ह्यूम को सन्तोष होता है ? उसी से उसके शब्दों में सुनिए—

"सौभाग्यवश ऐसा होता है, कि चूंकि तर्क इन (संशय के) बादलों का ध्वंस नहीं कर सकता। दैव स्वयं उस प्रयोजन की सिद्धि कर देता है, और मेरे मन की इस प्रवृत्ति को ढीला करके या किसी अन्य प्रवृत्ति और मेरी इन्द्रियों के किसी सजीव प्रभाव से, मेरी इन **मिथ्या कल्पनाओं को** मिटा देता है, और मुझे इस **दार्शनिक अवसाद तथा मूर्छा** से छुटकारा दिलाता है। मैं भोजन करता हूं, मैं शतरंज का खेल खेलता हूं, मैं बातचीत करता हूं, मैं मित्रों की संगति में सुख अनुभव करता हूं, और तीन चार घंटे तक आनन्द मनाने के पश्चात् जब मैं फिर इन **कल्पनाओं** की ओर लौटता हूं, तो यह इतनी जड़, क्लिष्ट और उपहासास्पद प्रतीत होती हैं कि मैं इन में प्रवेश करने का साहस अपने चित्त में नहीं पाता।"*

*1, Bk 1, IV, 7 (a condensed quotation, taken from Atkin's Philosophy of Hume—Vide Roger's A student's History of Philosophy P. 382

यह स्वच्छ और सीधा साधा अनुताप है मूर्छित, काल्पनिक एवं उपहासास्पद दार्शनिक विचारधारा का अनुताप है—जिसे ह्यूम ने निर्माण करने का प्रयत्न किया, और जो अन्त में **जड़ और शुष्क, क्लिष्ट कल्पना** के अतिरिक्त कुछ न बनी। यह सचमुच उसका सौभाग्य था, कि दैव=प्रकृति माता की ममता के साथ उस की रक्षा करने को आई और उसे संशय और अवसाद के उस गढ़े में गिरने से बचा लिया, जो उसने अपने अशुद्ध दार्शनिक विचारों द्वारा खोदा था। उस निपट अज्ञानी की अवस्था सचमुच अधिक स्पर्धा के योग्य है, जिसे ऐसे विचार नहीं सताते। उचित रीति से दार्शनिक अनुशीलन किसी और परिणाम पर पहुँचाता है। शंकराचार्य्य इससे कितना सर्वथा भिन्न कहते हैं—

"समस्त प्रमाण आदि व्यवहारों का आश्रय होने से आत्मा प्रमाण आदि व्यवहारों से पूर्व सिद्ध है*। अर्थात् आत्मा स्वतःसिद्ध प्रत्यक्ष एवं प्रमाणनिरपेक्ष है। जो इसे स्वीकार नहीं करता, वह भी प्रकारान्तर से इसे स्वीकार ही करता है। इनकार वास्तव में स्वीकारता का द्योतक है+। **जो निराकरण करता है, उसके बिना** निराकरण बन ही नहीं सकता। कौन निराकरण करता है? कोई नहीं। क्योंकि कोई है नहीं। यदि निराकरण करने वाला है, तो उसकी सत्ता निःसन्देह एवं प्रमाणनिरपेक्ष सिद्ध है।×

---

* आत्मा तु प्रमाणादिव्यवहाराश्रयत्वात् प्रागेव प्रमाण-व्यवहारात्सिध्यति (शांकरभाष्य वेदा० २।३।७

\+ य एव हि निराकर्त्ता तदेव तस्य स्वरूपम् (शांकरभाष्य वेदान्त २।३।७

× न ह्यात्मागन्तुकः कस्यचित्, स्वयंसिद्धत्वात् न ह्यात्मात्मनः प्रमाणमपेक्ष्य सिद्ध्यति (शांकर भाष्य वेदान्त २।३।७)

द्वितीय अध्याय

तत्त्वमसि

'तत्त्वमसि=वह तू है' यह वेदान्त का प्रसिद्ध महावाक्य है। मूल से पृथक् करके इसके अर्थ का बहुत अनर्थ किया गया है। वास्तव में यह छान्दोग्योपनिषद् के, जो वैदिक फ़िलासफ़ी का एक अत्यन्त प्रसिद्ध आध्यात्मिक ग्रन्थ है, एक संवाद की टेक है। इस संवाद का मुख्य विषय आत्मतत्त्व की वास्तविकता के सागर में गहरी डुबकियां लगाना है। बाह्य विषयों एवं अनुभूति में अपने को बांधना अत्यन्त व्यर्थ है। केवल अनुभूतियों के प्रवाह के द्वारा तत्त्व नहीं समझा जा सकता। यह केवल बाह्य अवस्था का दिग्दर्शन कराती हैं, किन्तु दार्शनिक जिज्ञासा का समाधान नहीं करतीं। समस्त संवाद इतना शिक्षाप्रद और रोचक है, कि उसमें से कुछ छोड़ना अनुचित है। लीजिए वह सारा संवाद—

छान्दोग्योपनिषत्

अध्याय ६ खण्ड ८

अरुणापुत्र उद्दालक ने अपने पुत्र श्वेतकेतु से कहा—'सोम्य! स्वप्न का रहस्य मुझ से समझ। हे सोम्य! जब यह कहा जाता है कि यह पुरुष सो रहा है, तब वह अपने स्वरूप को प्राप्त हुआ होता है, वह उस समय आत्मा को प्राप्त होता है। इस कारण उसको 'स्वपिति' ऐसा कहते हैं, जिसका भाव यह है कि वह आत्मतत्व

को प्राप्त कर चुका है।*

जैसे रस्सी से बन्धा हुआ पक्षी प्रत्येक दिशा में उड़कर कहीं भी ठिकाना न पाता हुआ अन्त को उस बन्धनस्थान पर आता है, इसी प्रकार, हे सोम्य ! यह मन प्रत्येक दिशा में घूम कर कहीं ठिकाना न पाकर प्राण का आश्रय लेता है, क्योंकि, हे सोम्य ! प्राण ही मन का बन्धन है।+

हे सोम्य ! भूख प्यास का रहस्य मुझ से समझ। जब यह कहा जाता है कि मनुष्य खाता है, तब जल उस भोजन को ले जाता है। जिस तरह (गौओं को ले जाने वाल) गोनाय, (घोड़ों को ले जाने वाला) अश्वनाय, (पुरुषों को ले जाने वाला) पुरुषनाय नाम है, ऐसे ही जल को (भोजन ले जाने वाला) अशनाय कहते हैं। उसी से शुङ्ग=शरीर उत्पन्न होता है। सोम्य ! इस बात को समझो कि यह निर्हेतुक नहीं हो सकता।×

छान्दोग्योपनिषद्—(६।८)

*उद्दालको हारुणिः श्वेतकेतुं पुत्रमुवाच, "स्वप्नान्तं मे सोम्य ! विजानीहीति। यत्रैतत् पुरुषः स्वपिति नाम, सता सोम्य ! तदा सम्पन्नो भवति, स्वमपीतो भवति। तस्मादेनꣳ स्वपितीत्याचक्षते स्वꣳ ह्यपीतो भवति॥"

+स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा बन्धनमेवोपश्रयते, एवमेव खलु सोम्य ! तन्मनो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते। प्राणबन्धनꣳ हि सोम्य ! मन इति।

×अशनापिपासे मे सोम्य ! विजानीहीति यत्रैतत्पुरुषोऽशिशिषति नाम,अप एव तदशितं नयन्ते,तद् यथा गोनायोऽश्वनायः

अन्न के अतिरिक्त उसका और क्या हेतु हो सकता है? अतः हे सोम्य! अन्नहेतुक शरीर के द्वारा जलरूप कारण की खोज करो और तेजरूप शुङ्ग के द्वारा हे सोम्य! मूल सत् की खोज करो। ये सब जन्य पदार्थ सन्मूल हैं, सत ही इनका ठिकाना है, और सत् में ही यह बद्धमूल रहते हैं।*

और जब इस मनुष्य को प्यास लगती है, अग्नि ही उस पिए हुए जल को ले जाता है। जैसे—गोनाय, अश्वनाय, पुरुषनाय होते हैं, इस प्रकार अग्नि को 'उदन्या' कहते हैं। उसी से यह शुङ्ग-शरीर उत्पन्न होता है, अतः सोम्य! यह समझो, कि यह निर्हेतुक नहीं हो सकता।+

जल के अतिरिक्त उसका मूल और क्या हो सकता है। हे सोम्य! जलरूप शुङ्ग के द्वारा अग्निरूप मूल की खोज कर। हे सोम्य! और अग्निरूप शुङ्ग के द्वारा मूल सत् की खोजकर। हे सोम्य! ये सारे सृष्ट पदार्थ सन्मूलक हैं, सत् ही इनका ठिकाना है,

---

पुरुषनाय इत्येवं तदप आचक्षतेऽशनायेति तत्रैतच्छुङ्गमुत्पतितꣳ सोम्य विजानीहि, नेदममूलं भविष्यतीति।

*तस्य क्व मूलꣳ स्यादन्यत्रान्नाद्। एवमेव खलु, सोम्य, अन्नेन शुङ्गेनापोमूलमन्विच्छ, अद्भिः, सोम्य! शुङ्गेन तेजोमूलमन्विच्छ, तेजसा सोम्य! शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ। सन्मूलाः सोम्य! इमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः।

+अथ यत्रैतत् पुरुषः पिपासति नाम,तेज एव तत्पीतं नयते। तद्यथा गोनायोऽश्वनायः पुरुषनाय इत्येवं तत् तेज आचष्ट उदन्येति। तत्रैतदेव शुङ्गमुत्पतितꣳ सोम्य! विजानीहि, नेदममूलं भविष्यतीति।

और सत् में ही ये बद्धमूल रहते हैं। हे सोम्य! जिस प्रकार ये तीन देवता (अर्थात् अन्नजन्य, जलजन्य, अग्निजन्य पदार्थ) मनुष्य को प्राप्त होकर त्रिवृत् त्रिवृत् होता हुआ एक एक होता है, यह पहले कहा जा चुका है। हे सोम्य! जब मनुष्य मरता है, तब इस की वाणी मन मे लीन हो जाती है, मन प्राण में, और प्राण अग्नि में, और अग्नि उससे अगले तत्त्व में।

यह सूक्ष्मतत्त्व है। यह सब आत्मा का है, यही सत्य=मूल तत्त्व है। हे श्वेतकेतो! **तू वह आत्मा है।**

[श्वेतकेतु ने कहा] महाराज, मुझे फिर समझाइए।

[पिता ने] उत्तर दिया--हे सोम्य तथाऽस्तु।*

खण्ड ९

हे सोम्य! जैसे मधुमक्खियां मधु संग्रह करती है और अनेक वृक्षों के रसों को इकट्ठा करके एकरस बना देती हैं। जैसे वे रस नहीं जाना करते कि मैं अमुक वृक्ष का रस हूं, मैं अमुक वृक्ष का रस हूं । इसी प्रकार ये सारे

---

*तस्य क्व मूलꣳ स्यादन्यत्राद्भ्यः। अद्भिः सोम्य! शुङ्गेन तेजो मूलमन्विच्छ। तेजसा सोम्य, शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ। सन्मूलाः सोम्य! इमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः। यथा तु खलुः सोम्य! इमास्तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत् त्रिवृद् एकैका भवति तदुक्तं पुरस्तादेव भवति। अस्य सोम्य! पुरुषस्य प्रयतो वाङ् मनसि संपद्यते। मनः प्राणे, प्राणस्तेजसि, तेजः परस्यां देवतायाम्।

स य एषोऽणिमा। एतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति। भूय एव मा भगवान् विज्ञापयतु इति। तथा सोम्येति होवाच॥

सृष्ट पदार्थ सत् में लीन होकर नहीं जानते कि हम सत् में लीन हो रहे हैं।

वे, चाहे बाघ हो चाहे सिंह हो, भेड़िया हो चाहै सुअर हो, कीट पतंग हो अथवा मक्खी मच्छर हो, जैसे होते हैं, बनजाते हैं। यह सूक्ष्म तात्विक बात है। यह सब आत्मा के लिए है। यह सब सत्य है। हे श्वेतकेतो! **तू वह आत्मा है।**

महाराज! मुझे फिर समझाइए।

उसने कहा, तथास्तु, सोम्य! *

खण्ड १०

हे सोम्य! यह नदियां पश्चिम से पूर्व को बह रही हैं पूर्व से पश्चिम को बह रही हैं। समुद्र से (अन्तरिक्ष से) समुद्र को जा रही हैं। वह सब समुद्र हो जाता है। जैसे वे (नदियां) नहीं जानतीं, 'यह मैं हूं,' 'यह मैं हूं' इसी प्रकार सचमुच, हे सोम्य! ये सारे

छान्दोग्या—(६।९)

*यथा सोम्य! मधु मधुकृतो निस्तिष्ठन्ति नानात्ययानां वृक्षाणां रसान् समवहारमेकता ꣳ रसं गमयन्ति।

ते यथा तत्र न विवेकं लभन्तेऽमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्मि। अमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्मि इति। एवमेव खलु, सोम्य! इमाः सर्वाः प्रजाः सति संपद्य न विदुः, सति सम्पद्यामह इति।

त इह व्याघ्रो वा सिꣳहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दंशो वा मशको वा यद् यद् भवन्ति तदा भवन्ति।

स य एषो ऽणिमा। एतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत् सत्यꣳ स आत्मा तत् त्वमसि श्वेतकेतो इति। भूय एव मा भगवान् विज्ञापयतु इति। तथा सोम्येति होवाच।

पदार्थ सत् से आकर (उत्पन्न होकर) नहीं जानते, कि हम सत् से उत्पन्न हुए हैं। वे, इस संसार में चाहे बाघ चाहे सिंह, अथवा भेड़िया या सुअर, अथवा कीट पतंग या मक्खी मच्छर जो जो होते हैं, तब हो जाते हैं।

यह रहस्य है। यह सब आत्मा के लिए है। यह सत्य है। हे श्वेतकेतो तू वह आत्मा है।

महाराज ! मुझे फिर समझाइए।

उसने कहा—तथास्तु सोम्य ! *

खण्ड ११

हे सोम्य ! इस महान् वृक्ष की जड़ पर यदि चोट की जाए यदि वह जीता हो, तो रस निकलेगा। यदि मध्य भाग पर चोट की जाए यदि वह जीता हो, तो रस निकलेगा। यह (वृक्ष) जीव-आत्मा, से अधिष्ठित है, और रसपान करता हुआ आनन्द से ठहरा है।

छान्दोग्यो—(६।१०)

*इमाः सोम्य नद्यः पुरस्तात् प्राच्यः स्यन्दन्ते पश्चात् प्रतीच्यस्ताः समुद्रमेवापि यन्ति स समुद्र एव भवति ता यथा तत्र न विदुरियमहमस्मि इयमहमस्मि।

एवमेव, खलु सोम्य ! इमाः सर्वाः प्रजाः सत आगत्य न विदुः सत आगच्छामह इति। त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दंशो वा मशको वा यद् यद् भवन्ति तदा भवन्ति॥

स य एषोऽणिमा। एतदात्म्यमिदꣳ सर्वꣳ तत् सत्यꣳ स आत्मा तत् त्वमसि श्वेतकेतो इति। भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति। तथा सोम्येति होवाच।

यदि यह-जीव-इस वृक्ष की एक शाखा को छोड़ दे, तो वह शाखा सूख जाती है। दूसरी शाखा को छोड़ दे, तो वह सूख जाती है। तीसरी को छोड़ दे, तो वह सूख जाती है। सारे वृक्ष को, यदि, छोड़ दे, तो सारा वृक्ष सूख जाता है।

हे सोम्य ! सब को इसी प्रकार जान।

जीव से रहित हुआ यह शरीर मर जाता है, किन्तु जीव नहीं मरता है।

यह रहस्य है। यह सब आत्मा के लिए है। यही सत्य है। हे श्वेतकेतो ! **तू वह आत्मा है।**

महाराज ! मुझे फिर से समझाइए।

उसने कहा। तथास्तु सोम्य। ❀

छान्दोग्य—(६।११)

* अस्य सोम्य महतो वृक्षस्य यो मूलेऽभ्याहन्याज्जीवन् स्रवेद्। यो मध्येऽभ्याहन्याज्जीवन् स्रवेद्। योऽग्रेऽभ्याहन्याज्जीवन् स्रवेत्। स एष जीवेनात्मनानुप्रभूतः पेपीयमानो मोदमानस्तिष्ठति।

अस्य यदेकाꣳ शाखां जीवो जहाति। अथ सा शुष्यति। द्वितीयां जहाति, अथ सा शुष्यति। तृतीयां जहाति, अथ सा शुष्यति। सर्वं जहाति सर्वः शुष्यति। एवमेव खलु सोम्य ! विद्धि इति होवाच।

जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते, न जीवो म्रियत इति।

स य एषोऽणिमा। ऐतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत् सत्यꣳ, स आत्मा तत् त्वमसि श्वेतकेतो इति।

भूय एव मा भगवान् विज्ञापयतु इति। तथा सोम्येति होवाच।

खण्ड १२

यहां से बड़ के वृक्ष का फल ले आ।

महाराज ! लीजिए यह है।

इसे फ़ोड !

महाराज ! फोड़ दिया।

इस में तू क्या देखता है ?

महाराज ! न्त सूक्ष्म बीज।

प्रिय ! इन म ं एक को फोड़।

महाराज ! फोड़ दिया।

इस में तू क्या देखता है।

महाराज ! कुछ भी नहीं।

उस ने पुत्र को कहा। इस सूक्ष्म वस्तु में जो कुछ नहीं दीख रहा, सोम्य ! उस में महान् बड़का वृक्ष निहित है।

सोम्य ! विश्वास कर ! यह रहस्य है। यह सब आत्मा के लिए है। यह सत्य है। हे श्वेतकेनो ! **तू वह आत्मा है।**

महाराज ! मुझे फिर से समझाइए।

उसने कहा—तथास्तु सोम्य।*

छन्दोग्योपनिषद्—(६।१२)

*न्यग्रोधफलमत आहर इति। इदं भगव इति। भिन्धि इति। भिन्नं भगव इति। किमत्र पश्यसि इति। अण्व्य इवेमा धाना भगव इति। आसामङ्गैकां भिन्धीति। भिन्ना भगव इति, किमत्र पश्यसीति। न किंचन भगव इति।

तं होवा . . । एतमणिमानं न निभालयस एतस्य वै सोम्य ! एषोऽणिम्न एव महान् न्यग्रोधस्तिष्ठति।

खण्ड १३

इस नमक को जल में डाल दो, और प्रातःकाल मेरे पास आना। उसने वैसा किया। तब उसको पिता ने कहा—हे प्रिय! रात को जो नमक पानी में डाला था, उसको ले आ, वह उसको तलाश करके न पा सका जैसे वह विलीन हो गया हो।

प्रिय! उसको ऊपर से चख! कैसे स्वाद देता है?

नमकीन।

बीच में से चख। कैसा है?

नमकीन।

नीचे से चख, कैसा है?

नमकीन।

इस को चखकर फिर मेरे पास आ।

उसने वैसा किया।

वह (नमक) तो निरन्तर रहता है।

उसने पुत्र को कहा, सोम्य। तू इसमें सत्=विद्यमान=सदा रहने वाले को नहीं देखता है। इसी में वह है। यह रहस्य है। यह सब कुछ आत्मा के लिए है। यह सत्य है। हे श्वेतकेतो! **तू वह आत्मा है।**

महाराज! मुझे फिर से समझाइए।

श्रद्धत्स्व, सोम्य, इति। स य एषोऽणिमा। एतदात्म्यमिदꣳ सर्वम्। तत्सत्यम्। स आत्मा तत् त्वमसि श्वेतकेतो इति।

भूय एव मा भगवान् विज्ञापयतु इति।

तथा, सोम्य, इति होवाच॥

उसने कहा-तथास्तु सोम्य । *

खण्ड १४

हे सोम्य ! जैसे आंखें बांध कर किसी मनुष्य को गान्धार देश से लाकर उसको निर्जन स्थान में छोड़ दिया जाए । वह पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण सब ओर चिल्ला कर कहेगा 'आंखें बांध कर लाया गया हूं । आंखें बांधकर छोड़ दिया गया हूं ।'

तब कोई उसकी आंखें खोलकर कहे-गान्धार देश इस दिशा में है, इधर जा । वह बुद्धिमान् ज्ञानवान गांव गांव पूछता हुआ गान्धार देश को पहुंच जाता है । इसी प्रकार इस संसार को आचार्य्यवान् (ज्ञानी गुरु का चेला) मनुष्य जान सकता है । उसको इतना ही

छान्दोग्य—(६ । १३)

*लवणमेतदु उदकेऽवधायाथ मा प्रातरुपसीदथा इति । स ह तथा चकार । त ᳪ होवाच यद् दोषा लवणमुदकेऽवाधा अङ्ग तदाहरेति । तद्धावमृश्य न विवेद, यथा विलीनमेव । अङ्ग अस्यान्तादाचामेति । कथमिति । लवणमिति । मध्यादाचामेति । कथमिति । लवणमिति । अन्तादाचामेति । कथमिति । लवणमिति । अभिप्रास्यैतदथ मोपसीदथा इति । तद्ध तथा चकार । तच्छश्वत् संवर्तते । त ᳪ होवाचात्र वाव किल सत् सोम्य न निभालयसे । अत्रैव किलेति । स य एषोऽणिमा । एतदात्म्यमिद ᳪ सर्वं तत् सत्यम् । स आत्मा तत् त्वमसि श्वेतकेतो इति ।

भूय एव मा भगवान् विज्ञापयतु इति ।

तथा सोम्येति होवाच ॥

विलम्ब होता है, जब तक उसकी मुक्ति नहीं होती और (परतत्त्व को) प्राप्त नहीं कर लेता।

यह रहस्य है। यह सब कुछ आत्मा के लिए है। यह सत्य है। हे श्वेतकेतो। **तू वह आत्मा है।**

महाराज! मुझे फिर से समझाइए।

उसने कहा-तथास्तु सोम्य! *

खण्ड १५

मरणासन्न मनुष्य के पास उसके संबन्धी इकट्ठे होते हैं और पूछते हैं कि, 'मुझे पहचानता है?' 'मुझे पहचानता है?' जब तक उसकी वाणी मन में लीन नहीं होती, और मन प्राण में, प्राण अग्नि में, और अग्नि अगले तत्त्व में लीन नहीं होती तब तक वह पहचानता है।

छान्दोग्योपनिषद्—(६ १४)

*यथा सोम्य पुरुषं गन्धारेभ्योऽभिनद्धाक्षमानीय तं ततोऽतिजने विसृजेत्। स यथा तत्र प्राङ् वोदङ् अधराङ् वा प्रत्यङ् प्रध्मायीताभिनद्धाक्ष आनीतोऽभिनद्धाक्षो विसृष्टः॥

तस्य यथाभिनहनं प्रमुच्य प्रब्रूयादेतां दिशं गन्धारा एतां दिशं व्रजेति। स ग्रामाद् ग्रामं पृच्छन् पण्डितो मेधावी गन्धारानेव उपसंपद्येत। एवमेवेहाचार्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्य इति।

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत् सत्यꣳ स आत्मा तत् त्वमसि श्वेतकेतो इति।

भूय एव मा भगवान् विज्ञापयतु इति।

तथा सोम्येति होवाच।

किन्तु जब उसकी वाणी मन में लीन हो जाती है, मन प्राण में, प्राण अग्नि में, और अग्नि अगले तत्त्व में लीन हो जाती है, तब वह नहीं पहचानता है।

यह रहस्य है। यह सब कुछ आत्मा के लिए है। यह सत्य है। हे श्वेतकेतो! **तू वह आत्मा है।**

महाराज! मुझे फिर से समझाइए।

उसने कहा—तथास्तु सोम्य! * (२१—२१)

खण्ड १६

हे सोम्य! जब किसी मनुष्य को हाथ बांधकर लाते हैं और कहते हैं-'इस ने अपहरण किया है; इसने चोरी की है। इसके लिए कुलहाड़ा गरम करो।' यदि उसने वह अपराध किया होता है, और मिथ्या बोलता है, तो वह मिथ्यावादी मनुष्य झूठ का आश्रय लेकर गरम कुल्हाडे को पकड़ लेता है। इस से वह जल जाता है। और [उसके बाद] मार दिया जाता है। यदि वह अपराधी नहीं

छान्दोग्य—(६ । १५)

*पुरुषꣳ सोम्य! उतोपतापिनं ज्ञातयः पर्युपासते 'जानासि मां जानासि माम्' इति। तस्य यावन्न वाङ् मनसि संपद्यते मनः प्राणे, प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायां तावज्जानाति।

अथ यदाऽस्य वाङ् मनसि संपद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम्। अथ न जानाति।

स य एषोऽणिमा। एतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत् सत्यम्। स आत्मा। तत् त्वमसि श्वेतकेतो इति।

भूय एव मा भगवान् विज्ञापयतु इति।

तथा सोम्येति होवाच॥

होता, वह सत्य प्रतिज्ञा करता है, वह सत्यवादी सत्य से मानों अपने को ढककर गरम कुल्हाड़े को पकड़ लेता है, वह नहीं जलता, और [फलतः] छोड़ दिया जाता है।

जैसे उस में वह नहीं जलता, इसी प्रकार यह सब कुछ आत्मा के लिए है। यह सत्य है, हे श्वेतकेतो ! तू वह आत्मा है।

उसकी इस बात को वह समझ गया, समझ गया। *

छान्दोग्य—(६। १६)

*पुरुषꣳ सोम्य, उत हस्तगृहीतमानयन्ति। अपाहार्षीत् स्तेयमकार्षीत्। परशुमस्मै तपतेति। स यदि तस्यकर्ता भवति तत एवानृतमात्मानं कुरुते। सोऽनृताभिसन्धोऽनृतेनात्मानमन्तर्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति स दह्यतेऽथ हन्यते।

अथ यदि तस्याकर्ता भवति तत एव सत्यमात्मानं कुरुते स सत्याभिसन्धः सत्येनात्मानमन्तर्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति स न दह्यतेऽथ मुच्यते।

स यथा तत्र नादाह्येत। एतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत् सत्यं स आत्मा तत् त्वमसि श्वेतकेतो इति।

तद्धास्य विजज्ञाविति विजज्ञाविति।

तृतीय अध्याय

भावार्थ=निष्कर्ष

पिछले अध्याय में उद्धृत सुन्दर संवाद का प्रयोजन यह है कि हम व्यावहारिक रूप से समझ सकें कि विचार, भाव, इच्छा तथा उसके नाना रूप उस मूल तत्त्व के द्योतक है, जो जीवन का सार है, और जिसे हम आत्मा या जीव कहते हैं। मनुष्य अपने संबन्ध में भी उसी प्रकार जिज्ञासा करता है, जिस प्रकार कि वह अन्य पदार्थों की खोज करता है।

ज्यों ही मनुष्य तुतलाने लगता है, त्यांही वह पूछने लगता है—यह क्या है, वह क्या है? जब उसकी मानसिक बाल्यावस्था बीत जाती है,तब उसमें अपने संबन्ध में जानने की उत्कण्ठा जागृत होती है। श्वेतकेतु के पिता आचार्य्य उद्दालक अपने पुत्र को बाह्य पदार्थों के ज्ञान से फूला देख कर, और आत्मज्ञान के विना इस ज्ञान की निस्सारता का अनुभव कर के उसका ध्यान प्रश्नों के प्रश्न, जिस प्रश्न का समाधान सब प्रश्नों का समाधान है, की ओर खींचता है, और कहता है कि तत्त्व या मूल को जानने का यत्न करो, शेष का ज्ञान स्वयं हो जाएगा। आचार्य्य उसे तर्क की उलझनों में नहीं फंसाता। उस का विषयविवेचन प्रौढ एवं स्पष्ट और सरल है। वह उसे स्वानुभव की प्रेरणा करता है।

पहले वह स्वप्न को लेता है फिर भूख और प्यास को। ये प्रतिदिन के अनुभव है। ये क्यों होते हैं? मैं क्यों सोता हूं? मुझे भूख प्यास क्यों लगती है? नींद शब्द या इसका किसी अन्य

भाषा का पर्य्यायवाचक शब्द यहां सर्वथा संगत नहीं होता। यह संस्कृत भाषा का सौन्दर्य्य है कि स्वपिति शब्द न केवल नींद के भाव को ही व्यक्त करता है, वरन् हमें दर्शनशास्त्र के मूल तक ले चलता है। 'स्वपिति' का क्या अभिप्राय है? **स्वम् अपीतो भवति**= आत्मा में—अपने में लीन होता है, मग्न होता है। सोने का अर्थ है बाह्य संसार से संबन्ध तोड़ कर आत्मा में मग्न होना। स्वप्न की और कोई भौतिक या मनोवैज्ञानिक व्याख्या इससे सुन्दर या सन्तोषप्रद नहीं हो सकती है। उड़ते हुए पक्षी का दृष्टान्त तो अत्यन्त मनोहर है। यह अन्न जल की उत्सुकता क्या है? किसी भौतिक पदार्थ की कमी के कारण शरीर में त्रुटि का होना और वस्तु है, और उस भौतिक पदार्थ को पूरा करने की **अन्तः प्रेरणा** सर्वथा दूसरी वस्तु है। भूख और प्यास केवल शारीरिक त्रुटियां ही नहीं हैं। वे **अन्तः प्रेरणा = अन्दर की पुकार** भी हैं। किसकी प्रेरणा? किसकी पुकार? उसकी जिसे आप अपना 'आपा' कहते हैं। यही मूल है, यही तत्त्व है। गुरु अपना उपदेश इन सुन्दर शब्दों में समाप्त करता है—'तत्त्वमसि=तत् त्वम् असि=तू वह आत्मा है।

नवम खण्ड में वही तत्त्व एक दूसरे दृष्टान्त—मधुमक्खी और उसके मधुसंग्रह—द्वारा समझाया गया है। भिन्न भिन्न वृक्षों के भिन्न भिन्न रस एकरस किए जाकर मधु-शहद बनते हैं। रसों का इकट्ठा करना मात्र शहद नहीं है। मधुनिर्माण का मूलसिद्धान्त रससंग्रह में नहीं, किन्तु उस आपा=आत्मा में है, जो रचना करता है, और जिसे आप 'मधुमक्खी' कहते हैं। इसी प्रकार भिन्न भिन्न आकार के पशु-सिंह, व्याघ्र, कीट, पतंग आदि—वास्तव में

आत्मा हैं। वे आत्मा के द्योतक हैं। पशुओं के साथ भी हमारा संबन्ध है, ऐसा संबन्ध जिस को अनुभव किए विना जीवनतत्त्व की व्याख्या नहीं हो सकती। उद्दालक के कहने का अभिप्राय यह है कि प्रिय पुत्र! चाहे बाघ हो या सिंह अथवा मनुष्य, वे सब उस आत्मा के भिन्न भिन्न प्रकाश हैं। सिंह का आत्मा मनुष्य के आत्मा के विसदृश नहीं है; यद्यपि सिंह और मनुष्य विसदृश प्रतीत होते हैं। तत्त्वमसि।

दशम खण्ड में उस तत्त्व पर एक दूसरे प्रकार से बल दिया गया है। नदियां समुद्र से निकलती और समुद्र में गिरती हैं, किन्तु वे अपने इस निर्गम और पात को नहीं जानतीं। जब तक वे नदियां हैं, तभी तक वे एक दूसरे से भिन्न तथा विसदृश दीखती हैं। यही अवस्था भिन्न भिन्न पशुओं की है। व्याघ्र कीड़े से सर्वथा भिन्न है, मच्छर भेड़िया से सर्वथा भिन्न है। किन्तु जीवनतत्त्व, जो कभी व्याघ्र के आकार में, कभी सुअर की शक्ल में या मनुष्य की मूर्त्ति में प्रकट होता है, सर्वत्र समान है, एकसा है। इसी वास्ते उद्दालक बलपूर्वक कहते हैं--तत्त्वमसि।

ग्यारहवां तथा बारहवां खण्ड बहुत सुन्दर हैं। शरीर की मृत्यु आत्मा की मृत्यु नहीं है, यह तो केवल आत्मा का शरीर से वियोग या संबन्धविच्छेद है। शरीर को चीरने फाड़ने से आत्मा दिखाई नहीं देता। आप बीज को तोड़ने से वृक्ष के जीवनमूल को नहीं देख सकते। जिस तरह पानी में घुलकर नमक अदृश्य हो जाता है, और केवल स्वाद से जाना जा सकता है, ठीक उसी तरह 'आत्मा' या 'जीव' भी अदृश्य है, तथापि शरीर की समस्त चेष्टाओं को नियन्त्रित करता है। शरीर तभी तक शरीर है, जब

तक उसमें आत्मा का वास है। जब आत्मा इसे छोड़ जाता है, यह निर्जीव=मृत वस्तु है। आंख का आंखपन, कान का कानपन, मुख का मुखत्व, हाथ का हाथपन, पैर का पैरपन, सब आत्मा के प्रयाण के साथ प्रयाण कर जाते हैं। जल की प्रत्येक बूंद तब तक नमकीन है, जब तक उसमें नमक है। शरीर का प्रत्येक अणु तब तक जीवित है, जब तक उसमें जीव है। असल श्वेतकेतु=वह सत्, जो प्रश्न पूछता है और समाधानों की लालसा करता है, मुख नहीं है जो बोलता है, ओष्ठ नहीं जो हिलते दीखते हैं, कान नहीं जो सुनने को उत्सुक हैं। असल श्वेतकेतु वह है, जो अदृश्य है, जो ओष्ठों को हिलाता है, कानों को सुनने का सामर्थ्य प्रदान करता है, जो यद्यपि अदृश्य है किन्तु समस्त शरीर को स्वादयुक्त बना देता है। अतः उद्दालक कहते हैं--तत्त्वमसि।

चौदहवें खण्ड में एक मार्गभ्रष्ट, अन्धप्राय, निर्जन वन में अकेले भटकने वाले, पूर्व पश्चिम का भेद न जानने वाले आत्मा का निरूपण है। इसी प्रकार हम सब, अपनी वास्तविकता को न जानने वाले, अपनी स्थिति को न समझने वाले, तत्त्व से बेसुध ध्रुम की भांति अनुभूतियों की भूलभुलैया में मार्गभ्रष्ट हो रहे हैं। हमें ऐसे गुरु की आवश्यकता है जो हमारी आंखों से परदा हटा कर और स्पष्ट दिखा कर कहे--'यह तुम्हारा मार्ग है।' उद्दालक ऐसा गुरु था। उसने श्वेतकेतु के मनोनेत्रों पर से आवरण (परदा) हटा दिया और उसे साक्षात् करा दिया कि 'तत्त्वमसि= तत् त्वम् असि=तू वह आत्मा है। यह मूल की भूल है, जो मनुष्य को भटका देती है। जब वह भूल सुधार दी जाए, गान्धार देश का मार्ग बता दिया जाए, तो शेष अपने आप हो जाएगा।

पन्द्रहवें खण्ड में हमें मृत्यु का दृश्य देखने को मिलता है। हम मरने को हैं, हमारे चारों ओर हमारे आप्त बन्धुजन बैठे यह जानने का यत्न कर रहे हैं कि क्या हम में कोई जीवन का चिह्न शेष है। आंख, कान, मुख आदि समस्त करणों के साथ शरीर वहां पड़ा है, किन्तु देख, सुन या बोल नहीं सकता। क्यों? चूंकि आत्मा जिसने शरीर को सजीव बना रखा था, चलने को है, सब क्रियाएं समाप्त होने को हैं।

यह संवाद सत्यमय जीवन के महत्त्व को समझाने और 'तत्त्वमसि' की प्रसिद्ध टेक की पुनरुक्ति पर समाप्त होता है।

———

चतुर्थ अध्याय

जीवात्मा तथा परमात्मा

संस्कृत भाषा में परमात्मा=परम+आत्मा तथा जीवात्मा=जीव+आत्मा दो शब्द हैं। परमात्मा शब्द का अर्थ है—सर्वश्रेष्ठ आत्मा और जीवात्मा का अर्थ है प्राणधारी आत्मा। 'आत्मा' शब्द दोनों के लिए आता है और बहुधा परम-आत्मा तथा जीव-आत्माओं का भेदभाव किए विना समस्त जीवनतत्त्वों के लिए व्यवहृत किया जाता है। परमात्मा और जीवात्माओं के कार्य्यों में इतनी समता है [निस्सन्देह उन के कार्य्यक्षेत्र भी अत्यन्त विभिन्न हैं] कि प्रायः इनके संवन्ध के विषय में भ्रम हो जाता है और इस भ्रम के कारण दर्शनशास्त्र तथा धर्म्म-दोनों क्षेत्रों-में बहुधा बाल की खाल निकाली जाती है।

इस प्रसंग में दो और शब्द ध्यान देने योग्य हैं। वे हैं पिंड =शरीर और ब्रह्माण्ड=बड़ा अण्डा=बड़ा क्षेत्र या संसार। हमारा शरीर मूलतः एक अण्डा है। समस्त शरीर मूल अण्डा से विकसित होते हैं। संसार, ये समस्त शरीर जिसके अत्यन्त छोटे छोटे अवयव हैं, एक बड़ा अण्डा है। भौतिक दृष्टि से जो अण्डा है, क्रियादृष्टि से वही चक्र बन जाता है। शरीर छोटा चक्र है, जगत् बड़ा चक्र या संसारचक्र है। पिण्ड=शरीर और ब्रह्माण्ड=जगत् में बहुत समानता है। भारत में यह लोकोक्ति सर्वसाधारण में प्रचलित है कि 'जो पिंड में है, वही ब्रह्माण्ड में है।' इसका तात्पर्य्य यह है कि हमारी शारीरिक क्रियाएं ब्रह्माण्डरूप विशाल समष्टि की

सूक्ष्म प्रतिनिधि हैं। जिस प्रकार हमारे शरीर की अधिष्ठातृदेवता आत्मा है, ठीक उसी प्रकार इस जगत् का नियामक महान् अधिष्ठाता है जिसे ईश्वर या परमात्मा कहते हैं। वैदिक साहित्य में इन दोनों प्रकार के आत्माओं को—परमात्मा तथा जीवात्माओं को—पुरुष कहा जाता है* जिसका शब्दार्थ है, शरीर में रहने वाला। मैं पुरुष हूं, अर्थात् अपने शरीर की अधिष्ठातृदेवता हूं, और आप अपने शरीर को। चींवटी के शरीर में रहने वाला आत्मा पुरुष है, कुत्ता के शरीर में रहने वाला आत्मा दूसरा पुरुष है, इसी प्रकार अन्यत्र समझ लीजिए। अर्थात् नाना शरीर हैं, उनमें नाना अधिष्ठतृदेव, आत्मा या पुरुष हैं। किन्तु परम-आत्मा परमपुरुष, परमात्मा एक है, वह समस्त संसार का अधिष्ठातृदेव है। हमारे शरीर; जो यद्यपि छोटे-छोटे स्वतन्त्र अवयवी है, संसारनामक महान् अवयवी के अवयव हैं और यह महान् अवयवी परमात्मा के शासन=नियन्त्रण में है। किन्तु वे परमात्मा के नियन्त्रण के अतिरिक्त, नियन्त्रण के अन्दर एक और नियन्त्रण में ऐसी चतुरता से नियन्त्रित हैं कि जीवात्माओं की चेष्टाएं, यद्यपि वे परमात्मा के नियन्त्रण के कारण सीमित हैं अपने सीमित क्षेत्र में सर्वथा स्वतन्त्र है। उदाहरणार्थ—महान् सूर्य की प्रत्येक गतिविधि शतप्रतिशत परमात्मा के नियन्त्रण में है, किन्तु मेरी आंख जो मेरे नियन्त्रण में है शतप्रतिशत परमात्मा के नियन्त्रण में नहीं है। इस के शारीरिक या आंगिक कार्य्य उन

---

* स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयो नैनेव किंचनानावृतं नैनेव किंचनासंवृतम् (बृहदारण्यकोपनिषत् २।५।१८)।

यह पुरुष ही है, जो सब देहों में रहता है, इस से कुछ भी अनावृत या असंवृत नहीं है।

नियमों के अनुसार होते हैं, जो मेरे अधिकार में नहीं हैं, किन्तु आंख का खोलना और बन्द करना सर्वथा मेरे वश में है। जब तक मेरी आंख स्वस्थ है, यह मेरी इच्छा पर खुलेगी, और मेरी इच्छा पर बन्द होगी। इस तरह मेरी आंख में द्वैध शासन है, एक शासन के आधीन दूसरा स्वतन्त्र शासन है। कई आस्तिक परमात्मा के प्रति अपनी अत्यधिक भक्ति के कारण यह मानते हैं कि जो कुछ भी हम करते हैं; वह सब परमात्मा के निश्चयानुसार नियन्त्रित, प्रदिष्ट और शासित होता है। स्वतन्त्रेच्छावादियों तथा दैववादियों-दोनों प्रकार के दार्शनिकों—में बड़े बड़े शास्त्रार्थ हुए हैं। कईयों का कहना है कि मनुष्य स्वतन्त्र नहीं है, वह विश्व ब्रह्माण्ड का अंग होने के कारण परमात्मा के नियमों के उतना ही अधीन है, जितना कि कोई जड़ पदार्थ। दूसरे कहते हैं कि यदि ऐसा है तो मनुष्य किसी भी कार्य का उत्तरदाता नहीं होना चाहिए। किन्तु ऐसा है नहीं। विचार और व्यवहार की स्वतन्त्रता, और अतएव उत्तर-दायित्व (फलोभक्तृता) मनुष्य में स्वाभाविक हैं। जब मेरा पुत्र या आश्रित या कोई अन्य जन ऐसा व्यवहार करता है जिसे मैं अशुद्ध मानता हूं, तो उससे मेरा क्रोध तथा मन्यु भड़कते हैं, क्यों कि मैं उसके अशुद्ध व्यवहार का कारण उसकी स्वतन्त्र इच्छा के उच्छृङ्खल व्यवहार को मानता हूं। स्वतन्त्र-इच्छा का एक बार लोप हो जाए, तो उचित और अनुचित की भद्रभावना तथा समस्त मानुषीय संस्थाएं समाप्त हो जाएं। इतिहास, भूगोल, नागरिकता राजनीति, व्यापार, व्यवहार, कलाकौशल, और वह सब कुछ जिसे विद्या शिक्षा बढ़ाती या उत्तेजना देती है व्यर्थ होजाते हैं। पूर्व से निश्चित पूर्ण दैववाद से जड़ और चेतन का, अजान और सुजान का, विद्वान् और मूर्ख का, पठित और अपठित का, दार्शनिक और

अज्ञानी का भेद नष्ट हो जाता है। हां, यह भी सच है कि हमारी स्वतन्त्र इच्छा की भी एक सीमा है, जिसे वह कभी नहीं लांघ सकती। यद्यपि हम समस्त दृश्य जगत् के सम्राट् नहीं हैं, तथापि हम में से प्रत्येक चाहे अत्यन्त दरिद्र ही क्यों न हो, अपने साम्राज्यों और अधिकारों की विभिन्न सीमाओं में सम्राट् हैं ही। एक विशेष मर्यादा में तो हम निर्विवादरूप में सम्राट् हैं, और उसमें हमारा अखण्ड साम्राज्य है। उस मर्य्यादा के बाहर हम कईयों के समान हैं और कईयों के अधीन भी हैं। अपनी मर्य्यादा के भीतर जो चाहें करे, वहां किसी के विरोध या विपरीतता का भय नहीं है। किन्तु उस मर्य्यादा के बाहर, और तदपेक्षया बड़ी मर्यादा के घेरे में हम स्वच्छन्द सम्राट् नहीं हैं। हम जो चाहते हैं करते हैं किन्तु एक विशेष सीमा तक और वह भी दूसरों की सहायता से। हम सेनासंचालन कर सकते हैं किन्तु तभी तक जब तक कि सैनिक हमारा अधिकार स्वीकार करें और हमारे प्रति भक्ति प्रदर्शित करें। हमें यह भी देखना होता है कि उन की यह भक्ति असन्दिग्ध है। इस विषय में ज़रा सी भूल चूक हमारे सारे खेल को बिगाड़ सकती है। इस दूसरी मर्य्यादा के परे एक और बड़ा घेरा है, जिसमें हम सर्वथा सम्राट् नहीं है, जिसमें हम किसी दूसरे सम्राट् की प्रजा हैं, जो हम सब की अपेक्षा बड़ा अतएव सब से बड़ा है। इस में हम सर्वथा दूसरों के समान हैं, न हम किसी पर शासन कर सकते हैं, और न कोई हम पर शासन कर सकता है। हम जो चाहते हैं करते हैं, किन्तु दूसरों की सम्मति और सहयोग से। हमारी इच्छा हमारी स्वतन्त्रता की सीमा के अनुरूप सीमित है। यहां हमें महत्त्वकांक्षा नहीं करनी चाहिए, और बहुधा हम करते भी नहीं। इसी सीमातक हम बढ़ सकते हैं। इससे आगे किसी भी

उपाय से नहीं जा सकते। इसके आगे हमारी इच्छा रुक जाती है, और ठहर जाती है। सचमुच तब हम बेबस होते हैं। हम अपनी समस्त ज्ञानशक्तियों, अनुभवों एवं इच्छाओं के साथ, एक दूसरी शक्ति की पूरी पकड़में होते हैं, स्वातन्त्र्य का एक कण भी हम में नहीं होता। हम चाहें तो अपने को दास कह सकते हैं, यद्यपि हमारी दशा दासों से भी बुरी होती है, दास स्वतन्त्रता से सोच सकते हैं, किन्तु हम वैसा नहीं कर सकते; दासों को थोड़ी बहुत स्वाधीनता होती है, हमें वह भी नहीं होती। हम दूसरे के हाथ में केवल तिनके के समान होते हैं,किसी दूसरे के तार हिलाने पर नाचने वाली कठपुतलियां मात्र। हम ने जो यह सामान्य नियम खोज निकाला है, इसका किसी दशा में अपवाद नहीं होता। एक कीड़े को ले लीजिए। इसकी तीन मर्य्यादाएं है, सब से छोटी मर्य्यादा में अपने पंख उड़ाने तथा शक्तियों का यथेच्छा उपयोग करने में वह सर्वथा स्वतन्त्र है, दूसरी मर्यादा में यद्यपि वह स्वामी तो है तथापि उसे अपना स्वामित्व दूसरों से मनवाना पड़ता है, तीसरी मर्य्यादा अन्य अनेकों के साथ समान है। इस तीसरी मर्य्यादा के आगे वह नहीं जा सकता। यहां इस की स्वतन्त्रता की समाप्ति है। राम कृष्ण जैसे बड़े बड़े शूरवीरों को या सिकन्दर और शार्लमेन जैसे महान् विजेताओं को या मुसोलिनी और हिटलर जैसे सर्वाधिकारियों (डिक्टेटरों) को ले लीजिए। इनकी वह तीन मर्य्यादाएं है, सब से छोटी, बिचली और सब से बड़ी। उनकी भी कठपुतलियां, उनके भी अधीनस्थ और उन के भी समान हैं। उस के आगे, वह कीड़े के समान हैं तृणवत् हैं। इस में सीमा का भेद भले हो, प्रकार का नहीं।

इन मर्य्यादाओं के सम्बन्ध में भ्रम ही स्वतन्त्रेच्छावादियों

और दैववादियों में विवाद का मूल है। जो अवस्था एक मर्य्यादा की है, भ्रम से उसे किसी दूसरी की समझ लिया जाता है। उदाहरणार्थ-प्रत्येक दैववादी जानता है कि एक विशेष सीमा तक वह स्वतन्त्र, पूर्णतया स्वतन्त्र और सर्वथा स्वाधीन है। किन्तु वह उससे आगे पग धरने का साहस कर बैठता है, और अपने आप को प्रतिबद्ध पाता है, रुका हुआ अनुभव करता है। वह अनुभव करने लगता है कि वह स्वतन्त्र नहीं है, और कि स्वतन्त्रेच्छावाद एक धोखा है। वह एक सीमा तक स्वतन्त्र था उससे परे वह स्वतन्त्र नहीं था। वह उस सीमा को न देख सका, और ऐसा अन्धांधुन्ध निश्चय करने की भूल कर बैठा। ऐसी ही अवस्था स्वतन्त्रेच्छावादी की है। उसने अपने आप को एक विशेष सीमा के अन्दर स्वतन्त्र अनुभव किया और उसने यह परिणाम निकाला कि वह सर्वत्र स्वतन्त्र है। सम्राट् यज्ञदत्त, सुभिक्ष देश में पूर्ण सम्राट् है, और सुफाल देश में जहां कि सम्राट् मित्रदत्त उसके साथ सख्यभाव रखता है, वह एक सहयोगी शासक है, किन्तु विकाल देश में वह कुछ भी नहीं है, जहां न उसे कोई जानता और न कोई पूछता है। यह कहना कि वह कहीं का भी सम्राट् नहीं, भूल है, और यह मानना कि वह सर्वत्र सम्राट् है, एक और भूल है। सच्चाई कहीं इन दोनों के बीच में है। इस 'कहीं' का निर्णय या निश्चय करना ही तो कठिन है। आप एक कार्य्य स्वतन्त्रता और सरलता से कर सकते हो एक दूसरा काम भी कर सकते हो, किन्तु कठिनता से। और एक तीसरा कार्य्य तो सर्वथा कर ही नहीं सकते। मुसल्मानों के चौथे ख़लीफ़ा ह. अली ने इसे एक साधारण दृष्टान्त से खूब समझाया है। कहते है कि एक दिन एक अरब ह. अली के पास आया और

इस विकट प्रश्न पर ह. अली का मन जानना चाहा। ह. अली ने उस अरब से कहा, कि अपनी एक टांग ऊपर को उठाओ। अरब ने आसानी से अपनी टांग ऊपर को कर दी। तब ह. अली ने उसे दूसरी टांग भी ऊपर उठाने को कहा। अरब वैसा न कर सका, क्योंकि यह असंभव था। ह. अली ने कहा, देखो, सत्य यह है। तुम अपनी किसी एक टांग को ऊपर उठाने में स्वतन्त्र थे, जब तुम ने एक को उठा लिया, तब तुम दूसरी को उठाने में अपने आप को असमर्थ पाते हो। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हम स्वतन्त्र हैं, किन्तु एक विशेष सीमा तक, उसके परे सर्वथा स्वतन्त्र नहीं हैं।

एक दूसरा साधारण उदाहरण—मौत का दृश्य देखिए। एक मरणासन्न मनुष्य की कल्पना कीजिए। उसके सम्बन्धी उसको खाट के चारों ओर बैठे हैं। वह अपनी असमर्थता का अनुभव करता है, किन्तु जीने के लिए फिर भी उद्योग करता है। आत्मा, जो इस देह को छोड़ना नहीं चाहता और एक दूसरी अदृश्य शक्ति, जो इसे मरने पर विवश कर रही है, के बीच मानो संग्राम चल रहा है। दोनों शक्तियों का भेद अत्यन्त स्पष्ट और सन्देहरहित है। एक अल्प सामर्थ्य वाला है, और दूसरा सर्वतो-महान् शक्तिमान् है। अल्पशक्ति वाला महान् शक्तिमान् के अधीन होता हुआ भी स्वतन्त्र है, कम से कम जीने की इच्छा करने में तो स्वतन्त्र है। यह इस अंश में छोटा है कि यह अपनी इच्छा पूरी नहीं कर पाता। किन्तु यह एक शक्ति तो है, ऐसी शक्ति जो उद्योग कर सकती है, चाहे असफल ही रहे। वह आत्मा भी एक स्वतन्त्र आत्मा है, जो मृत्यु को समीप देखकर अपने आपको भाग्य के या उस महान् शक्तिमान् की इच्छा के हवाले कर देता है, और प्रसन्नता से शरीर छोड़ देता है, क्योंकि वह विरोध

का फल न देखकर स्वेच्छा से आत्मसमर्पण कर देता है। जीवात्माओं और परमात्मा का द्वैत या भेद इतना स्पष्ट और असन्दिग्ध है, कि अनेक दर्शनिकों ने इसी स्पष्टता के कारण ही सन्देह किया है। वे कहना चाहते हैं कि 'सत्य कैसे ऐसा उथला हो सकता है। मोती समुद्र पर तैरा नहीं करता और जो तैरता है, वह मोती नहीं है।'

और वस्तुएं जैसी प्रतीत होती हैं, वैसी नहीं हुआ करतीं।

श्रीशङ्कराचार्य्य जी ने गौडपादाचार्य्य की कारिकाओं पर भाष्य करते हुए इस प्रकार तर्क उपस्थित किया है :—

१. जाग्रद्दृश्यानां भावानां वैतथ्यम्, इति प्रतिज्ञा।

अर्थात् जाग्रत्-अवस्था में दीखने वाले भाव मिथ्या होते हैं (यह प्रतिज्ञा है।)

२. दृश्यत्वात् इति हेतुः।

क्योंकि वे दृश्य हैं=दर्शन का विषय हैं (यह हेतु है।)

३. स्वप्नदृश्यभाववत् इति दृष्टान्तः।

स्वप्न के दृश्यों की भांति (यह दृष्टान्त है।)

४. यथा तत्र स्वप्ने दृश्यानां भावानां वैतथ्यं तथा जागरितेपि दृश्यत्वमविशिष्टम् इति हेतूपनयः।

जैसे स्वप्न में दीखने वाले भाव मिथ्या होते हैं, वैसे जागरित दशा के भाव भी मिथ्या होते हैं; क्योंकि 'दृश्यत्व' दोनों अवस्थाओं में समान है (यह उपनय है!)

५. तस्माज्जागरितेपि वैतथ्यं स्मृतम् इति निगमनम् (गौडपादकारिका पर शांकर भाष्य २।४)

इस वास्ते जागरित दशा में भी दृश्यमान भाव मिथ्या हैं (यह निगमन है।)

शङ्कराचार्य्य जी जागरित अवस्था के समस्त दृश्यों को मिथ्या सिद्ध करना चाहते हैं। उन्हों ने अपना पक्ष सिद्ध करने के लिए अरस्तू के तीन तर्क-अवयवों के स्थान में भारतीय तर्क शास्त्र के पंचावयव अनुमान का आश्रय लिया है। दृश्यों का मिथ्यात्व सिद्ध करने के लिए उनका मुख्य हेतु दृश्यत्व है, मानों दृश्य दृश्यावस्था में अवश्य मिथ्या होते हैं, अथवा दृश्यत्व और यथार्थत्व का ऐसा विरोध है कि वे एक अधिकरण में रह नहीं सकते। **जो दृश्य है वह अवश्य मिथ्या है** अथवा जो यथार्थ है, वह दृश्य नहीं हो सकता। इतना ही नहीं शङ्कराचार्य्य जी एक पग आगे जाते प्रतीत होते हैं उनका भाव यह है कि जो दृश्य है, वह केवल मिथ्या ही नहीं है, वरन् वह यथार्थ का बोध भी नहीं करा सकता। दृश्यों के मिथ्यात्व की भावना हमें उनके विषय में अत्यन्त सन्दिग्ध कर देती है, वे अविश्वसनीय हैं और अतएव व्यर्थ समझ कर छोड़ दिए जाने चाहिए।

इस तर्क के आधार पर शङ्कराचार्य्य जी अपना सिद्धान्त स्थापित करते हैं कि जीवात्मा जीवात्मा नहीं, वे ब्रह्म हैं। वे **अनेक, नाना** नहीं, वरन **वह, एक, अद्वितीय** है। वे नाना प्रतीत होते हैं और यही प्रतीति उनकी नानात्वप्रतीति के मिथ्यात्व का प्रमाण है। हमें दो आत्माओं में जो भेद प्रतीत होता है, वह काल्पनिक-मायिक है। गुरुशिष्य, स्वामिसेवक, पिता-पुत्र, माता-दुहिता, राजा-प्रजा, पूज्य-पूजक एक और अभिन्न है, अद्वितीय है। संसार के अन्य पदार्थों की भांति 'मैं' और 'तू' भी मिथ्या है। 'मैं' 'तू' हूं और 'तू' 'मैं' है। उद्देश्य विधेय है, और विधेय उद्देश्य है।

ऐसे पौरस्त्य और पाश्चात्य अनेक दार्शनिक हैं जो शङ्करा-

चार्य्य जी के इस तर्क की तो प्रशंसा करते हैं, किन्तु उनके सिद्धान्त से पूर्णतया सहमत नहीं हैं। द्वैत की गुत्थी को अनेक विचारकों ने अनेक प्रकार से और कुछ कुछ सफलता से सुलझाने का यत्न किया है। यह प्रश्न सरल नहीं है, इसने श्रेष्ठ मस्तिष्कों को कई बार प्रताडित किया है। केवल इस भेद का ही समाधान नहीं करना, वरन् आत्मा के अन्तस्तल में परमात्मा के प्रति उठने वाली भक्ति-भावनाओं को भी देखना है। विस्तार से कहें, तो निम्नलिखित वाद इस विषय में प्रस्तुत किए जाते हैं—

१. आत्माओं को परमात्मा अपने में से उत्पन्न करता है।

२. परमात्मा आत्माओं को अभाव से उत्पन्न करता है।

३. आत्मा परमात्मा का अंश है, जिस प्रकार जलबिन्दु समुद्र का अंश है।

४. आत्मा अग्नि से चटखने वाली चिनगारियों के समान हैं मूल में वे परमात्मा और आत्मा एक हैं।

५. आत्मा उस अनन्त आत्मा के सान्त परिणाम हैं जिस प्रकार बुलबुले समुद्र का।

६. आत्मा स्वप्न-दृश्यों या इन्द्रजाल की भांति सर्वथा मायिक हैं।

पञ्चम अध्याय
'आत्माओं की उत्पत्ति' का वाद

साधारण बातचीत में परमात्मा-परमेश्वर को जगत् का स्रष्टा कहा जाता है। वेदान्तदर्शन का आरंभ इस सूत्र से होता है।

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा (वे. १।१।१)

अब यहां से ब्रह्म के जानने की इच्छा होती है और फिर ब्रह्म का यह लक्षण किया है—

जन्माद्यस्य यतः (वे. १।१।२)

ब्रह्म वह है जिससे जगत् की उत्पत्ति आदि होते हैं।

आद्य=आदि शब्द से स्थिति और संहृति=नाश=प्रलय का भी ग्रहण होता है। इस का तात्पर्य यह है कि ब्रह्म केवल सृष्टि ही नहीं करता, स्थिति और प्रलय का करने वाला भी वही है।

साधारण रीति से यहां ऐसी तर्कना किया करते हैं कि ब्रह्म समस्त संसार का रचने वाला है, अतः वह समस्त भाव पदार्थों का भी रचयिता है और चूंकि जीव या आत्मा भी संसार में हैं अतः यह स्वाभाविक और तर्करीति से सिद्ध होता है कि आत्माओं को भी ब्रह्म उत्पन्न करता है। दार्शनिकों को छोड़ दीजिए, उनमें कदाचित् मतभेद हो, सब मज़हबी (मतवादी) लोग इस विषय में एकमत हैं। ब्रह्म के प्रति हमारी श्रद्धाभक्ति हमें ऐसा विश्वास करने को बाधित करती है। कैसे एक सच्चा भक्त इसके विपरीत सोच सकता है? मज़हब के राज्य में ब्रह्म को अपना कर्त्ता न मानना

नास्तिकता है। क्या उसने मेरी आंखें नहीं बनाई ? हां बनाई हैं। क्या मेरे कान उसने निर्माण नहीं किए ? हां किए हैं। क्या उसने मेरा दिमाग नहीं बनाया ? हां बनाया है। तो इसी भांति क्या उसने मेरे आत्मा का निर्माण नहीं किया है ? तुरत 'हां' में उत्तर देने का लोभ होता है। परन्तु ठहरो ठहरो !! इस विषय में कुछ और भी सोचना है।

परमेश्वर निस्सन्देह सृष्टि का बनाने वाला है। क्या वह धारक पालक भी है ? निस्सन्देह। क्योंकि स्थिति=पालन=धारण का अर्थ इसके सिवा और कुछ नहीं, कि जो उत्पन्न किया जाए, उसे जारी रखा जाए। क्या वह प्रलय भी करता है ? प्रलय का अर्थ है 'मृत्यु', इसका अर्थ है विनाश। दूसरे शब्दों मे 'क्या ब्रह्म मारता भी है ? जब हम ऐसा कहते हैं, हम पर एक प्रकार का भय सवार हो जाता है। 'ब्रह्म मारता है' ऐसा कहने में हमें प्रसन्नता नहीं होती जैसा यह कहने में कि 'ब्रह्म सृष्टिकर्त्ता है।' सृष्टि करना अच्छा कार्य्य है। ब्रह्म अच्छा है, अतः वह हमारा सृष्टिकर्त्ता=निर्माता है। मारना बुरा कार्य है। परमेश्वर और मारना ! यह समस्या है। किन्तु जब सर्वशक्तिमान भगवान् सृष्टि की उत्पत्ति और पालना करते हैं, तब उसकी इच्छा का विघात या विरोध करने का बल किसमें है ? या जिसे उसने पैदा किया है, उसे मारने की सामर्थ्य किसमें है ? निर्दय तर्क हमें इस विश्वास के लिए बेबस कर देता है कि परमेश्वर ही मारता है। वह केवल स्रष्टा=उत्पन्न करने वाला, पैदा करनेवाला ही नहीं, वरन् वह संहर्त्ता=प्रलयकर्त्ता=मारने वाला भी है। जहां दूसरे मतवादियों का सिद्धान्त इस विषय में स्पष्ट नहीं है, वहां वेदान्तदर्शनकार व्यास जी ने आरंभ में इस सिद्धान्त का स्पष्ट समर्थन किया है।

अस्तु ! ब्रह्म संहर्त्ता=प्रलयकर्त्ता भी है, और समस्त संसार

का। क्या वह मेरी आंखों का नाश नहीं करता ? हां करता है। क्या वह मेरे कानों का नाश नहीं करता ? अवश्य करता है। तो क्या इसी भांति वह मेरे आत्मा का नाश नहीं करता ? शरीर के अन्दर कपकपी की लहर दौड़ जाती है। मुझे 'हां' कहने में संकोच होता है। समाधान इतना आसान नहीं, जितना कि उस के निर्मातृत्व=कर्त्तृत्व=स्रष्टृत्व के संबन्ध में था। आत्माओं के अमर होने के संबन्ध में, प्रायः प्रत्येक मत के ग्रन्थों में, इतना लिखा गया है, और इस के समर्थन में इतनी युक्तियां दी गई हैं कि 'आत्मा का मरना' स्वीकार करना बहुत कठिन है—

"तू मिट्टी से ही आया तू मिट्टी में समाएगा"
ये वचन आत्मा के संबन्ध में नहीं।

यदि आत्मा अमर है अर्थात् यह मरता नहीं, तो परमात्मा आत्मा का संहर्त्ता=मारने वाला न हुआ। वह किसी अन्य वस्तु को भले मार सकता हो, किन्तु आत्मा को नही मार सकता। जब हम परमेश्वर को संसार का संहर्त्ता=नाश करने वाला कहते हैं, तो आत्मा या आत्माओं को संसार की परिभाषा से बाहर कर देना चाहिए। परमेश्वर 'हमें' नहीं मार सकता। कम से कम मारेगा नहीं। वह इतना दयालु है कि वह हमें मारा जाता हुआ या मरता हुआ नहीं देख सकता। कम से कम वह हमें मारा जाता हुआ या मारता हुआ देखना नहीं चाहता। क्यों ? वह बहुत दयालु और बहुत शक्तिमान् है। तब हम नहीं मरते, हम अमर हैं। हमारे उपकरण मरते हैं। हमारा शरीर मरता है। हम अपने समस्त करणोपकरणों के विनाश के बाद भी बचे रहते हैं, जीते रहते हैं। हम तब भी बचे रहते हैं, जब वह सब जिसे हम अपना कहते हैं, नहीं रहता है।

तो, जहां तक आत्माओं का संबन्ध है, परमात्मा संहर्त्ता नहीं है। तो क्या वह आत्माओं का बनाने वाला है? कैसे और क्यों? अमर आत्मा अवश्य अजन्मा होने चाहिएं। यह प्रकृति का नियम है कि जिसका आदि है, उस का अन्त भी होना चाहिए। जिसका अन्त है, उसका आदि भी अवश्य होता है। जिसका आदि है, वह अनन्त=अमर नहीं हो सकता। और जो अमर है, उसका आदि नहीं हो सकता। सब अमर अनादि भी हैं। अमरता अनादिता का एक पक्ष है। यदि मैं अमर हूं, तो मैं अनादि भी अवश्य हूं जिसका अर्थ यह है कि मैं कभी उत्पन्न नहीं किया गया *। यह तो केवल शरीर है, जो उत्पन्न किया गया। केवल मेरा शरीर ही मरेगा। मैं न कभी उत्पन्न हुआ और न मरूंगा। मेरे जन्म का अर्थ अभाव से भाव में आना नहीं, वरन् पूर्व से विद्यमान मेरे आत्मा का शरीर में प्रवेश करना है, जो शरीर पहले नहीं था, और अब बनाया गया है। इसी तरह मेरी मृत्यु का अर्थ भी मेरा सर्वथा विनाश या अभाव नहीं, वरन् मेरे कभी न मरने वाले आत्मा का विनश्वर शरीर से वियोग है। जब मैं कहता हूं कि परमेश्वर मेरा स्रष्टा या बनाने वाला है तो इसका अर्थ केवल इतना ही है कि वह मेरे शरीर का रचयिता=निर्माता है।

---

* नत्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥

गीता २। १२

ऐसा कोई समय नहीं था, जब मैं नहीं था, या तू और ये राजा नहीं थे। और न ही कोई ऐसा समय आएगा, जब तुम, हम, ये सब नहीं रहेंगे।

जो लोग परमात्मा को आत्माओं का रचने वाला मानते हैं, उनका अभिप्राय निम्नलिखित में से कोई एक हो सकता है—

१. परमेश्वर अपने में से आत्माओं को पैदा करता है।

२. परमेश्वर अभाव में से आत्माओं को पैदा करता है। पहली अवस्था में परमेश्वर आत्माओं का निमित्त और उपादान-दोनों-कारण है अर्थात् अभिन्ननिमित्तोपादानकारण है। दूसरी दशा में वह केवल निमित्त कारण है।

वेदान्त सूत्रों पर भाष्य करते हुए कई स्थलों पर शंकराचार्य्य जी पहले पक्ष अर्थात अभिन्ननिमित्तोपादान कारण का समर्थन करते प्रतीत होते हैं +। जैसे सोने से रुचक कुण्डल या स्वस्तिक आदि बनते हैं या जैसे मिट्टी से घट, शराव प्याला आदि बनते हैं, इसी प्रकार परमेश्वर से सजीव निर्जीव, चेतन अचेतन पदार्थ उत्पन्न होते हैं। और जिस प्रकार ये रुचक कुण्डल स्वस्तिक आदि पुनः अपने मूल सुवर्ण में लीन हो जाते हैं, या घट, शराव और प्याला आदि फिर मिट्टी हो जाते हैं, इसी प्रकार ये सजीव निर्जीव पदार्थ अपने विनाश के पश्चात् परमेश्वर मे लीन हो जाते हैं या पुनः परमेश्वर हो जाते हैं। अरबी की कहावत है। 'सब पदार्थ अपने मूल में लीन हो जाते हैं।

यह पक्ष यद्यपि आपाततः सुन्दर प्रतीत होता है, तथापि निस्सार है, और तर्क की कसौटी पर पूरा नहीं उतरता। छान्दोग्योपनिषत् में निर्दिष्ट, मिट्टी और मिट्टी के विकारों का दृष्टान्त कदाचित् परमेश्वर को जगत् का उपादान कारण सिद्ध करने के लिए नहीं दिया

+ देखो शंकरभाष्य २। १। ६

गया है। वह तो केवल कार्य्यकारणभाव का स्पष्ट बोध कराने के लिए ही दिया गया है। उपादानकारण सदा परिवर्त्तनशील=विकारी होता है। यदि मिट्टी में विकार=परिवर्त्तन न हो तो उसमें से कोई घट या शराव नहीं बन सकता। यदि सुवर्ण विकारी न हो, तो आप उस से कंकण नहीं बना सकते। फिर और देखिए, कंकण का प्रत्येक कण सुवर्ण है, घट का प्रत्येक घटक मिट्टी है। यदि कुण्डल विशुद्ध सोने का है और उसमें किसी भी प्रकार की कोई मिलावट नहीं, तो कंकण का गुरुत्वमान या दूसरे गुण ठीक विशुद्ध सुवर्ण के ही होंगे। इसी प्रकार सब से पहले यही समझ मे नहीं आता, कि **निर्विकार** ब्रह्म कैसे सान्त आत्माओं के रूप मे विकृत होगा। दूसरे—सारे दोष, त्रुटियां अपराध और पाप जो आत्माओं में माने जाते हैं परमात्मा में मानने पड़ेंगे, यदि वह संसार का उपादान कारण हो तो।

एक और बात भी है। सोने के सारे भूषण जो सोने से बनाए जाते हैं, सुवर्णकार या ग्राहकों की आवश्यकताओं के अनुसार बनाए जाते हैं। परमेश्वर एक अद्वितीय सत् है, वह पूर्ण और निर्विकार है, उसे न कोई आवश्यकता है और न ही विकृत होने की योग्यता उसमें है। विकार या भीतर से होता है या बाहर से। यदि विकार अन्दर से हो, तो कोई इच्छा, कमी, त्रुटि, या विकार के लिए कोई आवश्यकता, पूरा करने के लिए कोई रिक्त स्थान अवश्य चाहिए। यदि विकार बाहर से हो, तो विकार करने वाला कोई दूसरा अवश्य होना चाहिए। यदि ब्रह्म एक और अद्वितीय है, और सृष्टि-उत्पत्ति से पूर्व ब्रह्म के अतिरिक्त और कोई पदार्थ नहीं था। तो बाहर से विकार बेकार है, क्योंकि सर्वव्यापक परमात्मा की दशा में उसके अतिरिक्त बाहर की कोई वस्तु है ही नहीं।

इसके अतिरिक्त परमेश्वर निर्दोष और पूर्ण है। इसी वास्ते वह अपने आप को दूसरे के हवाले न करेगा, और न ही दूसरे की इच्छा के अधीन करेगा।

यदि परमेश्वर संसार का उपादानकारण नहीं वरन केवल निमित्तकारण ही है, अर्थात् अभाव से जगत् की सृष्टि करता है तब भी, समस्या किसी प्रकार हल ही नहीं होती। पहले तो किसी भावपदार्थ का अभाव से उत्पन्न होना मानना बेहूदा है। छान्दोग्योपनिषत् में कितनी सुन्दरता से इस भाव को समझाया गया है—

"हे सोम्य! सृष्टि से पूर्व एक अद्वितीय सत् पदार्थ था। कई लोग कहते हैं, सृष्टि से पूर्व एक अद्वितीय असत् था, अतः सत् असत् से उत्पन्न होता है। किन्तु उस ने कहा-'सोम्य! यह कैसे हो सकता है? असत् से सत् कैसे उत्पन्न हो सकता है?"*

यह कथन उपादानकारण के सम्बन्ध में भी वैसा ही लागू है। गीता भी इस सिद्धान्त का निम्नलिखित शब्दों में प्रतिपादन करती है।

+नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः (गीता २।१६)

'अभाव से भाव नहीं होता, और न ही भाव का अभाव होता है।'

यह विचारप्रकार अत्यन्त वैज्ञानिक है, क्योंकि समस्त

---

*सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तद्धैक आहुर-सदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायते। कुतस्तु खलु सोम्यैवं स्यादिति होवाच कथमसतः सज्जायेतेति, (छान्दोग्योपनिषत् ६।२।१-२)

विज्ञानों का उद्देश्य कार्य्य का कारण खोजना है। यदि भाव की उत्पत्ति अभाव से हो सकती है, तो प्रयोगशालाओं में इतने परिश्रम तथा विश्व की पहेली के समाधान करने के लिए इतनी शक्ति व्यय करने की क्या आवश्यकता है? श्री शङ्कराचार्य्य ने बहुत विस्तार से और रोचक शब्दों में इस वाद की विवेचना की है-

"अभाव से भाव की उत्पत्ति का दृष्टान्त देते हैं 'नानुपमृद्य प्रादुर्भावात्' (न्या. द. ४।१।१४) बीज के नष्ट होने पर ही अंकुर उत्पन्न होता हैं। और इसी प्रकार नष्ट हुए दूध से दधि और मिट्टी के पिण्ड से घड़ा पैदा होता है। कूटस्थ-अविकारी कारण से यदि कार्य्य की उत्पत्ति हो, तो इस समानता के कारण सब की सब से उत्पत्ति होनी चाहिए। इस वास्ते अभावग्रस्त बीजादिकों से अङ्कुरों की उत्पत्ति होने के कारण अभावोत्पत्ति मानते है।" *

श्रीशङ्कराचार्य्य जी इस आक्षेप का समाधान इस प्रकार करते हैं—

"अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती, यदि अभाव से भाव की उत्पत्ति हो सका करती, तो कारण को मानना तथा खोजना व्यर्थ है। उपमृदित बीजादि का जो अभाव है, उस अभाव और शशशृङ्ग में स्वभावशून्य होने के कारण

---

* दर्शयन्ति चाभावाद् भावोत्पत्तिम्—'नानुपमृद्यप्रादुर्भावात्' इति। विनष्टाद्धि किल बीजादंकुर उत्पद्यते। तथा विनष्टात् क्षीराद् दधि, मृत्पिण्डाच्च घटः। कूटस्थाच्चेत् कारणात् कार्यमुत्पद्येताविशेषात् सर्वं सर्वत उत्पद्येत। तस्मादभावग्रस्तेभ्यो बीजादिभ्योऽङ्कुरादीनामुत्पद्यमानत्वादभावोत्पत्तिरिति मन्यन्ते। (शांकरभाष्य वेदान्त २।२।२६)।

अभावता की दृष्टि से कोई भेद नहीं है। बीज से ही अङ्कुर पैदा होने, दूध से ही दधि पैदा होने की कारणव्यवस्था सार्थक हो सके। निर्विशेष अभाव को कारण मानने पर शशशृङ्ग आदि से अंकुर आदि की उत्पत्ति हुआ करे; किन्तु होती दीखती नहीं।"

"जिस तरह उत्पल [एक प्रकार का कमल] आदि में नीलापन आदि कुछ विशेष-भेद होता है, उसी भांति यदि अभावों में भी भेद मानते हो, तो उत्पल आदि की भांति अभाव भी भाव हो जाएगा, अभाव नहीं रहेगा।"

"अभाव से भाव की उत्पत्ति मानने पर सभी कार्य्यपदार्थ अभावमय मानने पड़ेंगे, किन्तु ऐसा दिखाई नहीं देता, सभी पदार्थ अपने अपने स्वरूप से समन्वित भावात्मक ही प्रतीत होते हैं।" *

---

*नाभावाद्भाव उत्पद्यते। यद्यभावाद् भाव उत्पद्येताभावत्वाविशेषात् कारणविशेषाभ्युपगमोऽनर्थकः स्यात्। नहि बीजादीनामुपमृदितानां योऽभावस्तस्याभावस्य शशविषाणादीनां च निःस्वभावत्वाविशेषादभावत्वे कश्चिद्विशेषोऽस्ति; येन बीजादेवाङ्कुरो जायते क्षीरादेवदधीत्येवं जातीयकः कारणविशेषाभ्युपगमोऽर्थवान्स्यात्। निर्विशेषस्य स्वभावस्य कारणत्वाभ्युपगमे शशविषाणादिभ्योऽप्यङ्कुरादयो जायेरन्। न चैवं दृश्यते।

यदि पुनरभावस्यापि विशेषोऽभ्युपगम्येतोत्पलादीनामिव नीलत्वादिस्ततो विशेषवत्त्वादेवाभावस्य भावत्वमुत्पलादिवत् प्रसज्येत।

अभावाच्च भावोत्पत्तावभावान्वितमेव सर्वं कार्य्यं स्यात्।

"जिन बीजादिकों में भी स्वरूपोपमर्द (स्वरूपनाश) दीखता है, उन में भी विनश्यमान (विनष्ट होती हुई) पूर्व अवस्था अगली अवस्था का कारण नहीं मानी जाती। बीजादिकों के अविनश्यमान अनुगत अवयवों को अंकुरादिक का कारण माना जाता है।"+

"उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः (वेदान्त २,२,२७)

यदि अभाव से भाव की उत्पत्ति मानी जाए तो पुरुषार्थ न करने वाले उदासीन लोगों की भी अभीष्टसिद्धि हो जाया करे, क्यों अभाव सुलभ है। खेती के कार्य्य में यत्न न करने वाले किसान का भी फ़सल तय्यार हो जाया करे। मिट्टी के संस्कार-आदि में किसी प्रकार भी यत्न न करने वाले कुम्हार के पात्र बन जाया करें। बुनाई का कार्य्य न करने वाले बुनकर के वस्त्र बुनाई में यत्न करने वाले की भांति तय्यार हो जाया करें।" *

न चैवं दृश्यते; सर्वस्य च वस्तुनः स्वेन स्वेन रूपेण भावात्मनैवोपलभ्यमानत्वात्।

+येष्वपि बीजादिषु स्वरूपोपमर्दो लक्ष्यते, तेष्वपि नासावुपमृद्यमाना पूर्वावस्थोत्तरावस्थायाः कारणमभ्युपगम्यते; अनुपमृद्यमानानामेवानुयायिनां बीजाद्यवयवानामङ्कुरादिकारणभावाभ्युपगमात्।

*उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः॥ (वेदान्त २।२।२७) यदि चाभावाद् भावोत्पत्तिरभ्युपगम्येत, एवं सत्युदासीनानामनीहमानानामपि जनानामभिमतसिद्धिः स्यात्; अभावस्य सुलभत्वात्। कृषीवलस्य क्षेत्रकर्मण्यप्रयतमानस्यापि सस्यनिष्पत्तिः स्यात्। कुलालस्य च मृत्संस्क्रियायामप्रयतमानस्याप्यमत्रो-

इस सारे शास्त्रार्थ का सार और भाव यह है कि अभाव से भाव की उत्पत्ति समझ में ही नहीं आ सकती*। यदि आप प्रभु की सृष्टि पर गंभीर दृष्टि डालिएगा, तो इस वाद की पुष्टि में आप को एक भी उदाहरण नहीं मिलेगा। शङ्कराचार्य्य जी ने बहुत योग्यता से इस युक्ति का खण्डन कर दिया है कि बीज से अंकुर तभी पैदा होता है, जब बीज सर्वथा नष्ट हो चुकता है। (बीज से अंकुरोत्पत्ति का) दृष्टान्त दृष्टान्ताभास है। बीज के अवशिष्ट तत्त्व से अंकुर की उत्पत्ति होती है, न कि बीज के ऊपर चढ़े व्यर्थ कोष से, जो कि गल सड़ गया है। यदि 'कुछ नहीं'=अभाव, 'कुछ'=भाव का कारण हुआ करता, तो अभीष्ट पदार्थ की सिद्धि के लिए कौन सामान जुटाने का प्रयत्न करता ? मुझे रोटी की आवश्यकता है, और यदि रोटी 'अभाव' से पैदा हो सकती है, तो मैं क्यों गेहूं बोऊं और क्यों गेहूं का आटा पिसवाऊं। मुझे घर की आवश्यकता है, और घर यदि अभाव से बन सकता है, तो ईंटें पकाने तथा मकान के लिए उपयोगी दूसरा सामान जुटाने की क्या आवश्यकता है ? असत् से सत् या अभाव से भाव

त्पत्तिः। तन्तुवायस्यापि तन्तूनतन्वानस्यापि तन्वानस्येव वस्त्रलाभः। (शांकर भाष्य)

* The creation out of nothing is so entirely inconceivable and incredible that the statement must be rejected, no matter by what authority made (F. W. Westaway's Science and Theology.

अभाव से भाव की उत्पत्ति का सिद्धान्त ऐसा बुद्धिविपरीत और लचर है कि इस को, चाहे किसी ने क्यों न प्रतिपादन किया हो, सर्वथा अस्वीकार कर देना चाहिए।

की उत्पत्ति जादू के खेलों में हुआ करती है, वास्तविक घटनाओं की विवेचना वाले इस क्षेत्र में जादू का क्या काम ? अल्लादीन का दीपक कहानी सुनाने के लिए उपयोगी हो सकता है, बच्चों को उस से रस भी आ सकता है, किन्तु अभी ऐसा अल्लादीन का दीपक न आविष्कृत हुआ है, और न आगे आविष्कृत हो सकेगा, जिसके द्वारा भूखे बालक के लिए रोटी का टुकड़ा या प्यासे शिशु के लिए जल की एक बूंद मिल सके । कारण की भावना ने हमारे स्वभाव में इतना घर कर रखा है, कि अप्सराओं की कहानियों में भी कारण की खोज होती हैं, चाहे वे कैसी काल्पनिक क्यों न हों । अल्लादीन के दीकप का क्या प्रयोजन है ? वह भी तो एक कारण ही है ।

षष्ठ अध्याय

परमात्मा का अंश आत्मा

"मैं परमेश्वर का एक अंश हूँ-महान् का एक खण्ड हूँ" ऐसा कहना कितना गौरवमय है। 'मैं ईश्वर हूं' या मुझ में कोई ईश्वरीय अंश ' ऐसी कल्पना मनुष्य को फुला देती है। यह प्रलोभन इतना प्रबल है कि सभी कालों और सभी देशों के सन्तों ने इस स्वर में गाने में समाधि का सा आनन्द अनुभव किया है। सांसारिक व्यवहार में भी बड़ों के साथ सम्बन्ध में एक विशेष आकर्षण होता है। फटे पुराने चीथड़े पहना हुआ एक भिखारी भी यह सुन कर प्रसन्न होता है कि उस का किसी महान पुरुष से सम्बन्ध है। संसार में अपना स्थान उन्नत करने के लिए बहुत बार काल्पनिक वंशावलियों या काल्पनिक सम्बन्धों के स्थापित करने की वासना कई लोगों में होती ही है। महापुरुषों की किसी देव या देवी से उत्पत्ति बताना ग्रीक देवमाला तथा हिन्दू पुराणों में समान हैं। राम सूर्य्यवंशी हैं, अर्थात् 'सूर्य्य' देवता उनके मूल पुरुष हैं। कृष्ण चन्द्रवंशी हैं अर्थात् उन का सम्बन्ध 'चन्द्र' देवता से है। ये सूर्य्य या चन्द्र, जिन्होंने राम या कृष्ण के पूर्वजों को उत्पन्न किया, कौन थे, इस बात के खोजने की न किसी को रुचि, और न अवकाश ही हैं। कई बार तो हम इस प्रकार की खोज के विचार से ही कांप उठते हैं कदाचित् यह काल्पनिक सिद्ध हो जाए, और हम गौरव से वञ्चित हो जाएं।

सम्बन्ध और भी अधिक मोहक हो जाता है, जब यह अंश

और अंशी का रूप धारण करता है। जो सम्बन्ध हमें अभिन्नता का अधिकार प्रदान करता है, चाहे वह अभिन्नता आंशिक ही क्यों न हो, उस सम्बन्ध के सामने अन्य सब सम्बन्ध फीके पड़ जाते हैं।

किन्तु इस साधारण प्रतीत होने वाले वाद में कई समस्याएं हैं। ज्यों ही, हम यह विचारते हैं कि परमात्मा अखण्ड है, और उसे अखण्ड ही होना चाहिए, त्योंही यह विचार कि परमात्मा के अंश हैं या कोई व्यक्ति उसका अंश है व्यर्थ और अग्राह्य हो जाता है। इस समस्या का श्रीव्यासदेव जी को भान हुआ। उन्हों ने अपने वेदान्तदर्शन के दूसरे अध्याय के तीसरे पाद में इस का कुछ विवेचन भी किया है*। और वेदान्तदर्शन के विभिन्न भाष्यकारों ने अपने अपने अभीष्ट मन्तव्यों के अनुसार इस सूत्र का भाष्य करने का यत्न किया है। श्रीशङ्कराचार्य्य जी लिखते हैं कि 'आत्मा परमात्मा का अंश हो सकते हैं, जैसे चिनगारियां आग का अंश हैं। किन्तु यहां 'अंश' का अर्थ अंशसमान' है क्योंकि मुख्य अर्थ में तो निरवयव पदार्थ के 'अंश' हो ही नहीं सकते।+

शांकरभाष्य की भामतीटीका में श्रीवाचस्पति मिश्र ने इस वाद पर बहुत से पक्ष उठाए हैं। उसने वैदिकसाहित्य से अनेक उद्धरण देकर आपाततः विरोधी प्रतीत होने वाले सन्दर्भों का

---

* अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके।

+ जीव ईश्वरस्यांशो भवितुमर्हति यथाग्नेर्विस्फुलिंगः अंश इव अंशो, नहि निरवयवस्य मुख्योऽशः संभवति।

(वेदान्तदर्शन २।३।४३ पर शांकर भाष्य)

समन्वय करने का (विरोधपरिहार करके एकता स्थापित करने का) यत्न किया है। "जीवों और परमात्मा का अभेद मानने पर ईशितव्य और ईश का भेदभाव, जिज्ञासु और जिज्ञास्य का भेदभाव, ज्ञाता और ज्ञेय का भेदभाव, नियम्य और नियन्ता का भेदभाव, एवं आधेय और आधार का भेदभाव नहीं बन सकता।" * "और न ही 'ब्रह्मदाशा ब्रह्मकितवाः" इत्यादि दाश कितवों तक को ब्रह्म बनाने वाली श्रुतियां जीवों और ब्रह्म का भेद मानने पर संगत हो सकती हैं। + "जीव **निरवयव** ब्रह्म के अंश नहीं हो सकते।" × "और भी, यदि जीव परमात्मा के अंश हैं, जीवों के दुःख परमात्मा के होंगे, जैसे देवदत्त के पांव आदि में की पीड़ा देवदत्त को होती है। और इसी तरह ब्रह्मीभूत (मुक्त) जीव को समस्त जीवों के दुःख प्राप्त होंगे। इस मुक्ति से तो संसार ही भला है।"=

इसी तरह श्रीरामानुजाचार्य्य अपने श्रीभाष्य में लिखते

---

* ईशितव्येशितृभावश्चान्वेष्यान्वेष्टृभावश्च ज्ञेयज्ञातृभावश्च नियम्यनियन्तृभावश्चाधाराधेयभावश्च न जीवपरमात्मनोरभेदेऽवकल्पयते (भामती)

+ न च 'ब्रह्मदाशा ब्रह्मकितवाः' इत्याद्याश्च श्रुतयो 'दाशा ब्रह्म' 'कितवा ब्रह्म' इत्यादिप्रतिपादनपरा जीवानां ब्रह्मणा भेदेऽवकल्पन्ते। (भामती)।

× नहि तावदनवयवस्येश्वरस्य जीवा भवितुमर्हन्त्यंशाः।

= अपि च जीवानां ब्रह्मांशत्वे तद्गतवेदना ब्रह्मणो भवेत्, पादादिगता इव वेदना देवदत्तस्य। ततश्च ब्रह्मभूयंगतस्य समस्तजीवगतवेदनानुभवप्रसङ्ग इति वरं संसार एव मुक्तेः॥

(भामती)

हैं—"जीव ब्रह्म का अंश है, यह भी ठीक नहीं। अंश शब्द का अर्थ है किसी वस्तु का एक देश-टुकड़ा। यदि जीव ब्रह्म का अंश-एकदेश-टुकड़ा है तो जीव के दोष परमात्मा के दोष हुए। ब्रह्म के विभाग नहीं हो सकते अतः जीव ब्रह्म का खण्ड है, ऐसा अंशांशिभाव नहीं बन सकता।*

अंश, खण्ड, विभाग और विविध भाषाओं में इन शब्दों के पर्य्याय शब्द विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होते हैं। एक भौतिक विभाग होता है, एक बौद्धिक=तार्किक विभाग होता है और एक आध्यात्मिक विभाग होता है। परमात्मा का भौतिक विभाग या अंश असंभव और बुद्धि में न आ सकने वाला है। अतः भौतिक अर्थों में जीव ब्रह्म का अंश नहीं हो सकता। एक सामान्यबुद्धि का मनुष्य भी परमात्मा में भौतिक विभाग की कल्पना की असारता को अनुभव करता है, किंतु यह अत्यन्त दुर्भाग्य का विषय है कि हम में अत्यन्त पारङ्गत विद्वान् भी यह विश्वास करते प्रतीत होते हैं कि आत्मा या जीव परमात्मा के, भौतिक अर्थों में, अंश या खण्ड हैं। और अग्नि-चिनगारी के दृष्टान्त से बहुत भ्रम पैदा होता है। वे कहते हैं कि महान् अग्नि-ब्रह्म-से आत्माएं चिनगारियों की भांति चटका करती हैं। आग तो अन्ततः भौतिक पदार्थ है, और भौतिक जगत् से ली गई उपमा, थोड़ी सी असावधानता से आध्यात्मिक जगत् में प्रयुक्त करने पर असीम हानि कर सकती है। जब हम यह कहते

---

* ब्रह्मणोंशो जीव इत्यादि न साधीयः। एकवस्त्वेकदेशवाची ह्यंशशब्दः। जीवस्य ब्रह्मैकदेशत्वे तद्गता दोषा ब्रह्मणि भवेयुः। न च ब्रह्मखण्डो जीव इत्यंशत्वोपपत्तिः खण्डनानर्हत्वाद् ब्रह्मणः (श्रीभाष्य २।३।४२)

हैं कि हम जीव परमात्मा के अंश हैं, तो हमारा तात्पर्य्य यह होता है, हम स्वतन्त्र सत्ता प्राप्त करने से पूर्व परमात्मा से अभिन्न थे, अर्थात् दूसरे शब्दों में अकेला परमात्मा ही था, हम न थे। इस का अर्थ अपनी अनादिता या अपनी मुख्यसत्ता का अपलाप करना=इनकार करना है। गीता में श्री कृष्ण जी का यह वचन बताया जाता है—

"संसार में सनातन जीव मेरा ही अंश है।"*

इस वचन में आत्मा की अनादिता का निषेध नहीं किया गया है। यदि आत्मा अनादि है, तो भौतिक अर्थ में किसी दूसरे पदार्थ का अंश नहीं हो सकता। तब क्या इसका यह भाव नहीं कि अंश का अर्थ कोई ऐसा भाव है जिसमें समानता या सादृश्य हो? शङ्कराचार्य्य जी का 'अंश इव अंश:' कहना अधिक संगत है।

जीव की स्वतन्त्र सत्ता का निषेध किए बिना क्या जीव को परमात्मा का अंश इस अर्थ में कहा जा सकता है कि जीव की परमात्मा के साथ किसी अंश में समानता है, किन्तु हमें सावधान रहना चाहिए कि कहीं हम इस उपमा से धोखे में न पड़ जाएं। समता विषमता की भी सूचक होती है। जब हम कहते हैं कि देवदत्त यज्ञदत्त के समान है, तो इसका स्पष्ट अभिप्राय है कि कई ऐसे विषय हैं, जिनमें वे दोनों समान नहीं हैं, अन्यथा 'देवदत्त यज्ञदत्त के समान है,' कहने के स्थान में 'देवदत्त यज्ञदत्त है,' ऐसा कहते। इसी प्रकार जब हम कहते हैं कि 'जीवात्मा परमात्मा के समान हैं,' तो हमारा तात्पर्य्य असमानता भी जतलाना होता है,

* ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः (गीता १५।७)

अर्थात् अज्ञता, असमर्थता एवं दुःख की दृष्टि से दोनों असमान हैं। आग की हर एक चिनगारी में आग की चमक होती है, उसमें अन्धकार नहीं होता। सुवर्ण के प्रत्येक कण में सुवर्ण है, इसमें चांदी या लोहा का अंश नहीं होता है। किन्तु जो पदार्थ कुछ विषयों में अग्नि के समान है, उसमें ऐसे गुण भी हो सकते हैं, जो आग में न हों। सुवर्ण के समान वस्तु में सुवर्ण से भिन्न गुण भी हो सकते हैं। इस प्रकार यदि जीव कई अंशों में परमात्मा के समान है इसमें दुःखादि हो सकते हैं जो परमात्मा के गुण-धर्म्म नहीं हैं।

बहुधा परमात्मा को महान् समुद्र से उपमा दी जाती है, जीव जिसकी तुच्छ बूंदें हैं। यह कहा जाता है, कि जैसे जल की छोटी छोटी बूंदें समुद्र से उठती हैं और कुछ दूर जाकर फिर समुद्र में मिल जाती हैं। इसी प्रकार आत्मा परमात्मा से उत्पन्न होते और अन्त में उसी में लीन हो जाते हैं। मुण्डकोपनिषत् में आता है- -"जैसे बहती हुई नदियां अन्त में नाम रूप छोड़कर समुद्र में अस्त होती हैं। इसी प्रकार ज्ञानी नाम रूप छोड़कर परात्पर दिव्य पुरुष [परमात्मा] को प्राप्त होता है।*

यहां भी उपमा एकांगी है और इससे भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए। साधारणतया समुद्र एक बहुत बड़ा जलाशय है जिसमें जल के अनन्त बिन्दु हैं। इन्हीं बिन्दुओं से सागर बनता है। सागर इन बिन्दुओं के समुदाय के अतिरिक्त कुछ नहीं है। यदि

---

*यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपं विहाय। तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ मुण्डक ३।२।८

सारे जल बिन्दु सुखा दिए जाएं तो समुद्र सूख जाएगा, और समुद्र नहीं रहेगा। सागर इन बिन्दुओं से व्यतिरिक्त नहीं है। यदि परमात्मा को ऐसा महासागर माना जाए, जीव जिसके बिन्दु हैं, और इस उपमा को पूर्णरूपेण माना जाए तो इस का यह भाव होगा कि सब आत्माओं के समुदाय का नाम परमात्मा है, किन्तु यह एक असार सिद्धान्त है और कोई बुद्धिमान इसे स्वीकार नहीं कर सकता। मुण्डकोपनिषत् का जो वचन हम ने उद्धृत किया है, उसका भी यह भाव नहीं है। समुद्र की उपमा तो केवल यह समझाने के लिए दी गई है कि नामरूपात्मक बाह्य बंधन तब छूट जाते हैं जब जीव मुक्त हो जाता है। देवदत्त, यज्ञदत्त, विष्णुमित्र आदि नामों का, और मनुष्य पशु पत्ती कीट-पतङ्ग आदि रूपों (आकारों)का आत्मा के साथ अस्थायी संबन्ध होता है। संसार मुझे मेरे नाम और रूप (आकार) से पहचानता और जानता है। लोग कहते हैं, 'उसका रूप ऐसा है, उसका नाम अमुक है।' यदि मेरा विशेष रूप और नाम न हो, तो संसार के लिए मैं समाप्त हूं। किन्तु जिस रूप (आकार) से लोग मुझे पहचानते हैं, वह मेरा रूप नहीं, वरन् मेरे शरीर का है। मैं शरीर से पृथक् हूं किन्तु मेरी पहचान नहीं की जा सकती। इस शरीर का मेरी सत्ता के साथ अभेदसंबन्ध नहीं है। जिस नाम से संसार मुझे पुकारता है, वह तो संसार ने मुझे बुलाने के लिए दे रखा है। मैं अपनी इच्छा के अनुसार नाम बदल सकता हूं, किन्तु मैं वही बना रहूंगा। उपनिषत् का तात्पर्य्य यह है कि जिस प्रकार समुद्र में पड़कर नदियां अपना पृथक् नाम रूप छोड़ बैठती हैं, इसी प्रकार मुक्त जीव भी अपने समस्त सांसारिक बन्धन तोड़ देता है। मुक्त आत्मा का अर्थ विनष्ट आत्मा या विलुप्त आत्मा नहीं है। गङ्गा

जो बङ्गाल की खाड़ी में जा मिली है, न नष्ट हुई है, और न ही उसका सर्वथा अभाव ही हुआ है। वह तो वही है। जिन जल-बिन्दुओं से गंगा बनती है, वे सब वहीं हैं। एक बूंद का भी अभाव नहीं हुआ। केवल नाम रूप का अभाव हुआ है। आप उस बहते प्रवाह को नहीं देख पाते, और न ही 'गंगा' नाम से पुकार सकते हैं। सागर में इसके स्वरूप का लय नहीं हुआ, वरन् इसके नाम रूप का विलय हुआ है। इस प्रकार जब मेरी मुक्ति होगी, तो मेरी सत्ता का परमात्मा की सत्ता में विलय नहीं होगा। मुक्ति का अर्थ विनाश या सर्वथा अभावरूप होना नहीं है। मैं अपनी विशुद्ध वास्तविक दशा में बना रहता हूं। मैंने केवल नाम रूप की गोदड़ी उतार फेंकी है। यह एक और विषय है जिस के लिए समुद्र और बूंद की उपमा कदाचित् सर्वश्रेष्ठ है। इससे परमात्मा के मुकाबले में आत्माओं की सापेक्ष नगण्यता समझाई जाती है। किन्तु इन उपमाओं का व्यवहार अत्यन्त सावधानता से करना चाहिए। अंशांशिभाव का विचार तो कभी भी मन में नहीं लाना चाहिए। परमात्मा की निरवयवता=अखण्डता (भाग न हो सकना) और जीव की अखण्डता एवं उनका परस्पर न जुड़ने का भाव अथवा एक दूसरे में सर्वथा विलीन न होने का भाव कभी भी नहीं भुलाना चाहिए। इस उपमा के प्रयोग के लिए हम ऋषियों को दोष नहीं दे सकते। यह सबसे उत्तम थी, जो उन्हें रिझा सकती थी। समुद्र के तट पर खड़ा हुआ मनुष्य उसकी विशालता से चकित हुए बिना नहीं रह सकता वह समुद्र की सापेक्ष विशालता में उस महती विशालता की झलक देखता है, जो उसके मन के सामने है। भूल इस विचार की अशुद्ध विवेचना और इस अशुद्ध विवेचना के आधार पर स्थापित विचित्र वादों में है।

सप्तम अध्याय

माया और उसके रूप

पिछले दो अध्यायों में हम सिद्ध कर आए हैं कि जीवात्मा न तो जन्य=कृत=उत्पन्न पदार्थ हैं, और न ही भौतिक अर्थों में परमात्मा के अंश हैं। परन्तु प्रश्न का यह निषेधात्मक समाधान है। अब हम इन दोनों के पारस्पारिक सम्बन्ध की कुछ विवेचना करना चाहते हैं।

परमेश्वर को अनन्त=असीम माना जाता है। ब्रह्म के अतिरिक्त प्रत्येक वस्तु सान्त=सीमा वाली है। इस सिद्धान्त को स्वीकार करने से एक कठिनता उपस्थित होती है। वह यह कि यदि परमात्मा अनन्त है, तो दूसरे अनन्त या सान्त पदार्थों की सत्ता का अवकाश ही कहां है? अनन्त के अर्थ हैं अन्तरहित, सीमाशून्य। दूसरी वस्तुओं की सत्ता ईश्वर की सत्ता पर एक प्रतिबन्ध लगादेती है जो परमात्मा को अनन्त के स्थान में सान्त बना देता है। यह कठिनता साधारण नहीं है। हमारे सामने एक विषम समस्या उपस्थित आ होती है। या तो हमें मानना चाहिए कि परमेश्वर अनन्त नहीं है अर्थात् हमारी तरह सान्त है, या हमें यह मानना चाहिए कि परमेश्वर की सत्ता है, और हमारी सत्ता नहीं है, अर्थात हम नहीं हैं। कितनी असार बात है। हम प्रथम अध्याय में सिद्ध कर चुके है यदि किसी वस्तु का हमें असन्दिग्ध ज्ञान है, तो वह हमारी अपनी सत्ता ही है। यदि मैं यह कहूं कि मैं नहीं हूं

तो यह बहुत उपहासास्पद प्रतीत होता है। यदि मैं अपनी सत्ता से इनकार करता हूं, तो इसका यह अर्थ है कि में इसे स्वीकार करता हूं। आत्मसत्ता के निषेध का अर्थ है इसकी सत्ता को स्वीकार करना। परमात्मा की असीमता का इनकार करना भी सरल नहीं है। सान्त वस्तु का अर्थ है देश से सीमित वस्तु, या अपेक्षाकृत लघु या छोटी वस्तु, अथवा ऐसी वस्तु जो अवकाश के कुछ भागों में नहीं रहती। क्या ऐसी वस्तु ब्रह्म हो सकती है? जिन हेतुओं से विवश होकर हमें परमात्मा की सत्ता माननी पड़ती है, क्या उपर्युक्त प्रकार की सत्ता उनका सन्तोषप्रद समाधान कर सकेगी? यह एक प्रश्न है।

'परमेश्वर अनन्त है, इस मत का अधिक प्रचार है। जो परमेश्वर की सत्ता स्वीकार करते हैं, वे यह भी स्वीकार करते हैं कि वह अनन्त है। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो यह मानते है कि अनन्ता-वाद से आसानी से छुटकारा मिल सकता है। एफ़. डब्ल्यू. वेस्टावे (F. W Westaway) अपने ग्रन्थ 'सायंस ऐंड थियोलाजी (Science and Theology) में इस मत का प्रतिपादन करता है। विकासक्रम की ओर, जिससे दीर्घकालिक कष्टसहन और पुरुषार्थ द्वारा अधमअवस्था से निकल कर श्रेष्ठ और उत्तम अवस्था प्राप्त की जाती है, और भलाई की शक्ति धीरे से किन्तु निश्चयपूर्वक विजय पाती है, संकेत करता हुआ वह कहता है—

"समस्त सत् वस्तुओं के लिए, और इसी हेतु से परमात्मा के लिए भी 'अनन्त' विशेषण का प्रयोग करना सर्वथा व्यर्थ है। यह विशेषण ऐसा बोध नहीं कराता; जिससे कोई स्पष्ट या असन्दिग्ध भाव ज्ञात हो सके। संसार की उत्पत्ति के लिए 'अनन्त' कारण की सत्ता में कोई प्रमाण नहीं है; क्योंकि कोई प्रमाण संसार के

योग्य कारण के अतिरिक्त और किसी की सिद्धि नहीं कर सकता। 'अनन्त' का अनुमान अनुमानाभास=मिथ्या अनुमान है, और अनन्त परमेश्वर की साधक युक्तियां भी इस प्रकार युक्त्याभास हैं। हम सान्त मन के द्वारा अनुमान करते हैं, अतः हमारा परिणाम भी उसी प्रकार का होना चाहिए।"

"परमेश्वर का 'अनन्त' गुण परमेश्वर के अन्य सारे गुणों का खण्डन करके उनको व्यर्थ कर देता है, और परमेश्वर में व्यक्तित्व, चेतनता, शक्ति, बुद्धि या ज्ञान, भलाई, सृष्टि उत्पत्ति के प्रयोजन का आरोप असंभव कर देता है।" (पृ० ३६१)

वेस्टावे अनन्तता का निषेध करता है क्योंकि उसके मतानुसार 'यह विशेषण ऐसा बोध नहीं कराता जिससे कोई स्पष्ट या असन्दिग्ध भाव ज्ञात हो सके।' उसे यह समझना चाहिए कि अनन्तता का असन्दिग्ध और अतएव स्पष्ट बोध यदि हो सके तो वह अनन्तता सर्वथा नहीं होगी। अनन्त की अनन्तता इसी में है कि सान्त मन उसे पूरी तरह ग्रहण नहीं कर सकता। किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि हमारे मनों पर किसी ऐसी वस्तु का, जो असीम या अनन्त है और सान्त वस्तु से कहीं अधिक है कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वेस्टावे को विवश हो कर उपर्युक्त वक्तव्य के साथ यह टिप्पण देना पड़ा है--

"यह सत्य है कि हमारे मनोविकास की वर्त्तमान परिस्थिति में हमें यह विवश होकर मानना पड़ता है कि काल अनन्त=विभु है, किन्तु देश=अवकाश को अनन्त मानने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।"

यह एक प्रकार से भूल की स्वीकृति है वास्तव मे मन जितना

विकसित होता है, उतना ही वह अनन्तता के भाव को अनुभव करता है। वेस्टावे परमेश्वर में अनन्तता का निषेध इस कारण करता है कि उसके मत में परमेश्वर "धीरे धीरे किन्तु निश्चित रूप में विजय की ओर अग्रसर होने के लिए यत्न=संग्राम कर रहा है।" किन्तु उसने उस शक्ति का नाम नहीं लिया, जो परमेश्वर से बड़ी है और जिसके विरुद्ध परमेश्वर को संग्राम करना पड़ता है। यदि परमेश्वर से कोई ऐसी बड़ी शक्ति नहीं, जो परमेश्वर को अपने लक्ष्य तक पहुंचने से रोके, तो परमेश्वर में संग्राम की भावना मानने की आवश्यकता ही पैदा नहीं होती। यदि कोई ऐसी शक्ति है, तब हमें इस बात के कारण खोजने होंगे कि किस कारण उसका सामर्थ्य घटता है और परमात्मा का बल धीरे धीरे परन्तु निश्चित रूप से, बढ़ता है। जो भी हो, संसार में उन्नति की दौड़ का साधन परमेश्वर की अनन्तता के अपलाप करने में नहीं है, वरन् इसकी खोज अन्यत्र करनी चाहिए।

परमेश्वर को अनन्त मानने में वेस्टावे ने निम्नलिखित दोषों की कल्पना की है। वह कहता है—

'चूंकि अनन्त परमेश्वर में न व्यक्तित्व हो सकता है और न चेतनता, उसमें बुद्धि या ज्ञान भी नहीं हो सकता, क्योंकि उसकी बुद्धि भी अपौरुषेय होगी और उस का ज्ञान चेतनाशून्य होगा, ऐसी परिभाषाओं का अर्थ हमारे मन ग्रहण नहीं कर सकते। परमात्मा का सामर्थ्य=सर्वशक्तिमत्ता न मानने से हम एक **उद्योगी परमात्मा** तथा **उन्नतिशील संसार** को मानते हैं। यह जीवन सचमुच एक संग्राम बन जाता है, जिसमें जगत् के लिए कोई शाश्वत पदार्थ प्राप्त किया जाता है। इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य की प्रत्येक चेष्टा परमात्मा को उसके अन्तिम विजय प्राप्त करने में

सहायक होती है।" (पृ० ३६५)

इस उद्धरण का पहला भाग समझ से बाहर है। यह अत्यन्त निस्सार है। यह कोरी कल्पना है कि परमात्मा को सर्वव्यापक मानना उसे ज्ञान या बुद्धि से वञ्चित करना है। दूसरे-यदि अपना अन्तिम विजय प्राप्त करने के लिए परमात्मा को मनुष्य की सहायता की आवश्यकता है तो यह परमात्मा मनुष्य की अपेक्षा भी अधिक बेबस होगा, अतएव यह परमेश्वर सर्वथा नहीं हो सकता। हमें इस प्रश्न के समाधान करने के संबन्ध में वेस्टावे के यत्न के खरेपन के विषय में कुछ नहीं कहना है किन्तु समाधान इतना निकम्मा है कि हमें शंका है कि यह किसी ईश्वरविश्वासी को आकर्षित भी कर सकेगा। चिकित्सा रोग से अधिक मारक है। यदि कोई परमेश्वर है और मेरा विश्वास है कि वह है, तो पूरे अर्थों में वह अनन्त होना चाहिए--देश की दृष्टि से अनन्त (अपरिच्छिन्न), काल की दृष्टि से अनन्त (अपरिछिन्न), शक्ति में अनन्त, बुद्धि में अनन्त, प्रेम में अनन्त, महिमा में अनन्त। सान्त संसार ऐसे अनन्त ब्रह्म का संकेत करता है, और सान्त मन इस संकेत को समझते हैं। इससे (अनन्त से) कम न तो इस संसार का निर्माण कर सकता, और न ही इससे मानवमनों को सन्तोष हो सकता।

अच्छा तो, परमेश्वर अनन्त ही सही। यदि ऐसा है, तो सान्त आत्माओं की सत्ता के संबन्ध में क्या कहते हो? आरंभ में जो कठिनता उपस्थित हुई थी, मेरा भाव समस्या के दूसरा भाग से है अर्थात् यदि कोई एक अनन्त पदार्थ है, तो अन्य सान्त पदार्थ कैसे रह सकते हैं? उपनिषत् में उपदिष्ट है—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म,' परमात्मा सत्य है, परमात्मा ज्ञान है, परमात्मा अनन्त है। इस अनन्तता के होते दूसरा सान्त हो नहीं सकता।

श्रीशङ्कराचार्य्य जी तथा उन के विचारानुयायी विचारकों ने इस का एक समाधान खोज निकाला है, जिस को यद्यपि बहुत से विचरकों की बुद्धि ग्रहण नहीं करती है, तथापि वह इतना प्रचलित और उद्वेजक है कि इस की सूक्ष्म आलोचना अवश्य की जानी चाहिए! शङ्कराचार्य्य जी का संसार के सर्वश्रेष्ठ दार्शनिकों में अत्यन्त उच्चतम स्थान है, और जिस दार्शनिक सिद्धान्त की उनके परमगुरु श्रीगौड़पादाचार्य्य ने नींव रखी, और जिसका उन्होंने वेदान्तदर्शन के अपने भाष्य में परिष्कार किया, वह भारतीय मस्तिष्कों को सदा प्रभावित करता रहा है।

श्रीशङ्कराचार्य्य जी यह मानते हैं, कि ब्रह्म अपरिच्छिन्न=अनन्त है। वे यह भी मानते हैं कि ब्रह्म की अनन्तता के कारण सान्त सत्ताओं के लिए कोई अवकाश नहीं रहता। जिसे आप सान्त कहते हैं; वास्तव में वह अनन्त है। जिस को आप नाना=अनेक कहते हो, वास्तव में वह एक अद्वितीय है। 'अहंब्रह्मास्मि, एकमेवाद्वितीयम्'=मैं एक अद्वितीय ब्रह्म हूं, यह उनका मूल सिद्धान्त है। जिनको आप सान्त=अणु=परिछिन्न आत्मा या जीव कहते हैं, वे वास्तव में अनन्त ब्रह्म से अभिन्न हैं, उससे भिन्न नहीं हैं। भिन्न भिन्न आत्मा में जो भेद हमें भासता है, वह प्रतीतिमात्र है, मिथ्या है, माया है, असत् का सत् में अध्यारोप हैं, अध्यास है।

"जैसे स्वप्न, माया, या गन्धर्वनगर दीखता है, वैसे ही वेदान्तसिद्धान्तपारगामी विद्वानोंको यह संपूर्ण संसार दीखता है।"*

* स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा।
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः॥
(गौड़पादकारिका २। ३१)

इस का भाव यह है कि नाना भेदभावों से युक्त यह समस्त जगत्, १. स्वप्न, २. माया या ३. गन्धर्वनगर (इन्द्रजाल) में दिखने वाले मिथ्या पदार्थों की भांति मिथ्या है।

हमें बहुत बार स्वप्न आता है कि हम राजा हैं, हम हाथी पर सवार हैं और कि हमारे चारों ओर विस्तृत परिजनवर्ग उपस्थित है। जब हम जागते हैं तो हमें प्रतीत है कि हमारे राजत्व एवं दूसरे उपकरणों की कोई सत्ता ही न थी। इसी प्रकार सूर्य्य, चन्द्र, तारों, पर्वतों, नदियों, वृक्षों, मनुष्यों, पशुओं, पक्षियों आदि के समेत इस समस्त जगत् की कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। यह है तो नहीं किन्तु इसकी प्रतीति होती है।

१. "जैसे अन्धकार में अनिश्चित सी रस्सी में सर्प, धारा आदि की भ्रांत प्रतीति होती है, इसी प्रकार यह आत्मा है।

२. न निरोध (अभाव) है, न उत्पत्ति है, न बन्ध है, न साधक है, न मुमुक्षु है, और न मुक्त है, परमार्थता (सच्चाई) यह है।

३. "भिन्न भिन्न घटों में भिन्न भिन्न प्रतीत होने वाला घटाकाश आदि वास्तव में महाकाश से अभिन्न है, इस प्रकार जीवात्मा भी ब्रह्म से अभिन्न हैं, उपाधियों के कारण नाना प्रतीत हो रहे हैं।"

४. "घड़ों के नष्ट हो जाने पर घटाकाश आदि महाकाश में

---

१. अनिश्चिता यथा रज्जुरन्धकारे विकल्पिता।
सर्पधारादिभिर्भावैस्तद्वदात्मा विकल्पितः॥ (२।१७)

२. न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥ (गौ० का० २।३२)

३. आत्मा ह्याकाशवज्जीवैर्घटाकाशैरिवोदितः।
घटादिवच्च संघातैर्जातावेतन्निदर्शनम्॥ (गौ० का० ३।३)

प्रलीन हो जाते हैं। इस प्रकार जीव भी ब्रह्म में लीन हो जातेहैं।"

५. "जैसे एक घटाकाश के धूली धूमादि से भर जाने पर दूसरे घटाकाशों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, इसी प्रकार एक जीव के सुखादिसे संबद्ध होने पर दूसरों पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता।"

६. "रूप, क्रियादि प्रत्येक घट की भिन्न भिन्न होते हुए भी आकाश में कोई भेद नहीं आता, इसी प्रकार जीवों के आकार क्रियादि के भेद का ब्रह्म पर कोई प्रभाव नहीं होता।"

७."घटाकाश, जैसे, महाकाश का न विकार है,और न अवयव है, इसी प्रकार जीव आत्मा=ब्रह्म का न विकार और न अवयव है।"

८. "जीवब्रह्म की अभेदात्मक अनन्यता प्रशस्त है, उनका नानात्व निन्दनीय है, यही मानना उत्तम है।'

जो कुछ ऊपर कहा गया है, उस सब का सार और भाव यह है कि, ब्रह्म के विना अन्य-कोई पदार्थ सत् नहीं, सभी अन्य सत् प्रतीत होने वाले पदार्थ मिथ्या हैं, उन की कोई स्वतन्त्र सत्ता

---

४. घटादिषु प्रलीनेषु घटाकाशादयो यथा।
आकाशे संप्रलीयन्ते तद्वज्जीवा इहाऽऽत्मनि॥ (गौ० का० ३।४)

५. यथैकस्मिन् घटाकाशे रजोधूमादिभिर्युते।
न सर्वे संप्रयुज्यन्ते तद्वज्जीवाः सुखादिभिः॥ (गौ० का० ३।५

६. रूपकार्यसमाख्याश्च भिद्यन्ते तत्र तत्र वै।
आकाशस्य न भेदोऽस्ति तद्वज्जीवेषु निर्णयः॥ (गौ० का० ३।६)

७. नाऽऽकाशस्य घटाकाशो विकारावयवौ यथा।
नैवाऽऽत्मनः सदा जीवो विकारावयवौ तथा॥ (गौ० का० ३।७)

८. जीवात्मनोरनन्यत्वमभेदेन प्रशस्यते।
नानात्वं निन्द्यते यच्च तदेव हि समञ्जसम्॥ (गौ० का० ३।१३)

नहीं है। आत्मा और परमात्मा एक ही वस्तु हैं, दो नहीं। आत्मा परमात्मा है,परमात्मा आत्मा है। आत्मा परमात्मा से भिन्न और केवल जीवरूप क्यों भासता है? गौडपाद और शङ्कराचार्य्य इसका उत्तर देते हैं, कि यह निरी माया है। इसके लिए चार पांच दृष्टान्त दिए जाते हैं—

१. **स्वप्न**—जैसे जो कुछ हम स्वप्न में देखते हैं वह मिथ्या होता है, वैसे ही यह दृश्यमान जगत् भी मिथ्या है।
२. **माया**—जैसे जादूगर जादूद्वारा ऐसी वस्तुएं दिखाता है, जो होती नहीं। आप को सेब दिखाई देता है, किन्तु सेब होता नहीं। आपको कुत्ता दिखाई देता है, और कुत्ता होता नहीं।
३. **सीप में चांदी** का भ्रम होता है।
४. **मृगतृष्णिका**—दूर से रेत में पानी प्रतीत होता है।
५. **रस्सी में सांप**—बहुत बार अन्धकार में पड़ी हुई रस्सी सांप प्रतीत हुआ करती है।

ये प्रतिदिन अनुभव में आने वाले दृष्टान्त हैं। किन्तु सब से अधिक विचारने योग्य बात तो यह है कि प्रकृत प्रश्न के साथ इनका कहाँ तक सम्बन्ध है? सच्चे सादृश्य भी होते हैं और मिथ्या भी। आप स्वप्न देखते हैं किन्तु सदा नहीं। यदि आप प्रत्येक दृश्य को स्वप्न मान लें, तो आप न केवल अपने अनुभव के विरुद्ध चल रहे होंगे, वरन् आप समस्त प्रमाणों का भी अपलाप कर रहे होंगे। क्या स्वप्नदर्शन और जाग्रत्-दशा के दर्शन में कोई भेद है? क्या स्वप्न मिथ्या हैं? यदि मिथ्या हैं, तो कहां तक? क्या उन में कोई सत्यता होती है? आप कई तरह स्वप्नों का विचार कर सकते हैं।

सब से प्रथम-**स्वप्न स्वप्न हैं**। कल्पना कीजिए, मुझे स्वप्न आ रहा है। क्या यह सच है कि मुझे स्वप्न आ रहा है? क्या मैं सचमुच स्वप्न देख रहा हूं? क्या मेरा स्वप्न देखना सच्ची घटना है? स्वप्न होने की सत्यता में किसी को भी कभी सन्देह नहीं होता। मेरे स्वप्नदर्शन की घटना माया नहीं। मैं सचमुच स्वप्न देख रहा हूं।

दूसरा-**स्वप्नों का भाव-स्वभाव**। अर्थात् क्या स्वप्न में दिखाई देने वाले पदार्थ वास्तविक हैं? जब स्वप्न में मैं अपने आप को हाथी पर बैठा अनुभव करता हूं, तो क्या स्वप्न के समय सचमुच हाथी पर होता हूं? क्या स्वप्न में देखा पदार्थ यथार्थ होता है? हमारा सामान्य अनुभव यह है कि वह यथार्थ नहीं होता।

तीसरा-**स्वप्न कैसे आते हैं?** क्या वे जाग्रत् दशा के अनुभवों की भांति उत्पन्न होते हैं? अथवा उनकी उत्पत्ति का कोई दूसरा कारण भी है?

शङ्कराचार्य्य जी ने इस विषय पर पर्य्याप्त प्रकाश डाला है। चूंकि मायावाद का सिद्धान्त मुख्यतया उन्हीं का है, इस वास्ते उनके लेख से पुष्कल उद्धरण देना आवश्यक है। वेदान्त २।२।२६ **वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्**-सूत्र पर भाष्य करते हुए वे लिखते हैं—

"स्वप्नदर्शन वास्तव में 'स्मृति' है। और जागरित अवस्था का अनुभव 'उपलब्धि" है। स्मृति और उपलब्धि का भेद स्वतः प्रत्यक्ष प्रतीत होता है। उपलब्धि में पदार्थ उपस्थित है, स्मृति में पदार्थ उपस्थित नहीं है। मैं अपने प्यारे पुत्र को स्मरण करता हूं अर्थात् उसे उपलब्ध नहीं कर रहा हूं। मैं उसे उपलब्ध करना चाहता हूं।

ऐसी दशा में स्वप्न और जागरित का भेद स्वयं अनुभव करने वाला मनुष्य यह नहीं कह सकता कि 'जागरित दशा की उपलब्धि मिथ्या है, उपलब्धि होने के कारण, स्वप्नसमय की उपलब्धि के समान'।"*

भामती में इस विषय को और स्पष्ट किया गया है—

‡'संस्कारमात्र से ही उत्पन्न होने वाले ज्ञान को स्मृति कहते हैं। प्रत्युत्पन्नेन्द्रियसंप्रयोग=इन्द्रियार्थसंयोग जन्य=प्रत्यक्ष, लिंग (अनुमान), सादृश्य (उपमान), अन्यथानुपपद्यमान (अर्थापत्ति), और योग्यप्रमाणानुत्पत्ति (अभाव) स्वरूप-छः प्रमाणों-द्वारा उत्पन्न होने वाले ज्ञान को उपलब्धि कहते हैं। सोए हुए पुरुष के पास अन्य सामग्री न रहने से संस्कार ही शेष होता है, इस लिए स्वप्नज्ञान संस्कारजन्य होने के कारण 'स्मृति' है। और

---

*अपि च स्मृतिरेषा यत् स्वप्नदर्शनम्। उपलब्धिस्तु जागरितदर्शनम्। स्मृत्युपलब्ध्योश्च प्रत्यक्षमन्तरं स्वयमनुभूयतेऽर्थविप्रयोगसंप्रयोगात्मकमिष्टं पुत्रं स्मरामि नोपलभ उपलब्धुमिच्छामि इति। तत्रैवं सति न शक्यते वक्तुं मिथ्या जागरितोपलब्धिरुपलब्धित्वात् स्वप्नोपलब्धिवदित्युभयोरन्तरं स्वयमनुभवता। (शां० भा० वेदा० २।२।२९)

‡संस्कारमात्रजं हि विज्ञानं स्मृतिः। प्रत्युत्पन्नेन्द्रियसंप्रयोगलिंगशब्दसारूप्यान्यथानुपपद्यमानयोग्यप्रमाणानुत्पत्तिलक्षणसामग्रीप्रभवं तु ज्ञानमुपलब्धिः। तदिह निद्राणस्य सामग्र्यन्तरविरहात् संस्कारः परिशिष्यते तेन संस्कारजत्वात् स्मृतिः, सापि च निद्रादोषाद् विपरीताऽवर्तमानमपि पित्रादि वर्तमानतया भासयति। (भामती)

यह भी निद्रादोष के कारण उलटे, अविद्यमान पिता-आदि को विद्यमान की भांति दिखलाती है।"

स्वप्न के दृष्टान्त से संसार का मिथ्यात्व सिद्ध किया जा सकता है या नहीं, इस विषय पर श्रीशङ्कराचार्य्य जी ने विस्तारपूर्वक विचार किया है। विज्ञानवादी बौद्धों का (जो मन से बाहर संसार की किसी वस्तु की सत्ता नहीं मानते) के मत का खण्डन करते हुए वे लिखते हैं—

(१) "बाह्य अर्थ को न मानने वाला जो यह कहता है कि स्वप्नादि की भांति जागरितदशा के स्तम्भादिविषयक ज्ञान भी बाह्य अर्थों के विना हो सकते हैं, क्योंकि वे ज्ञानसामान्य हैं, उसका खण्डन करना चाहिए।"

(२) "इसका समाधान यह है कि 'जागरित दशा के अनुभव (ज्ञान) स्वप्न दशा के ज्ञानों की भांति नहीं हो सकते।"

(३) "क्यों? भिन्न स्वभाव होने के कारण जागरित और स्वप्न का वैधर्म्य=भिन्न स्वभाव होता ही है।"

(४) "वैधर्म्य क्या है? हमारा उत्तर है कि 'बाध और

---

१. यदुक्तं बाह्यार्थापलापिना स्वप्नादिप्रत्ययवज्जागरितगोचरा अपि स्तम्भादिप्रत्यया विनैव बाह्येनार्थेन भवेयुः प्रत्ययत्वाविशेषादिति तत् प्रतिवक्तव्यम्।

२. अत्रोच्यते—न स्वप्नादिप्रत्ययवज्जाग्रत्प्रत्यया भवितुमर्हन्ति।

३. कस्मात्। वैधर्म्यात्। वैधर्म्यं हि भवति स्वप्नजागरितयोः।

४. किं पुनर्वैधर्म्यम्। बाधाबाधाविति ब्रूमः। बाध्यते

अबाध।' अर्थात स्वप्न में उपलब्ध वस्तु बाधित हो जाती है। जागने पर मनुष्य को ज्ञान होता है—'मुझे यह मिथ्या प्रतीति हुई कि अमुक महापुरुष से मैं मिला। मुझ से महापुरुष का मेल नहीं हुआ, मेरा मन नींद में लीन था, इससे मिथ्या भ्रान्ति हुई।"

(५) "इस प्रकार जागरित दशा में उपलब्ध स्तम्भ आदि वस्तुएं किसी भी अवस्था में बाधित नहीं होती हैं।"

स्वप्नों के सम्बन्ध में यहां उद्धृत किया गया श्री शङ्कराचार्य्य जी का मत इतना स्पष्ट है, कि उन के मायावाद की आलोचना करते समय उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। यदि स्वप्न स्मृति के अधीन हैं, और स्मृति जागरित दशा के अनुभवों के अधीन है, तब समस्त स्वप्नों का जन्म मूलावस्था=जागरित दशा के अनुभवों पर निर्भर करता है। स्वप्न जागरित के अनुभवों के समान हैं या जागरित के अनुभव स्वप्नों के समान हैं। इस के स्थान में हमें यह कहना चाहिए कि स्वप्न जागरित के अनुभवों से पैदा होते हैं, वे जागरित के अनुभवों की सन्तान हैं, यद्यपि हैं कुसन्तान। हम उन्हें कुसन्तान इस कारण कहते हैं कि स्मृति जो स्वप्नों और जागरित-अनुभवों के बीच में रहती है, अपने मूल (जागरित अनुभवों) के अधिक अनुकूल है, और स्वप्न तो प्रायः तोड़े मरोड़े हुए होते हैं, और बहुधा स्मृति का अत्यन्त बुरी तरह बिगड़ा हुआ

हि स्वप्नोपलब्धं वस्तु प्रतिबुद्धस्य मिथ्या मयोपलब्धो महाजन-समागम इति। न ह्यस्ति मम महाजनसमागमो निद्राग्लानं तु मे मनो बभूव तेनैषा भ्रान्तिरुद्बभूवेति।

५. नैवं जागरितोपलब्धं वस्तु स्तम्भादिकं कस्यांचिदप्यवस्थायां बाध्यते।

अनुकरण होते हैं। इस बिगाड़ का कारण श्रीशङ्कराचार्य्य के मतानुसार 'निद्रादोष' होता है। जो कुछ हमें स्वप्न में दीखता है वह या तो बाहर भी ऐसा ही होता है, या कुछ काल पहले का अनुभव किया होता है, या इस प्रकार की अनुभूत सामग्री से बनता है, जिसे मन ने स्वप्नदशा में समस्त निद्रादोषों के साथ संवारा या बिगाड़ा है। उदाहरणार्थ—यह संभव है कि हम स्वप्न में एक मक्खी के पंख पर हाथी को नाचता देखें। एक तुच्छ मक्खी पर महान् हाथी के खड़े होने का दृश्य कभी देखा नहीं गया, और अतएव अद्भुत है। किन्तु हाथी, मक्खी, पंख, नाच, ये सब मेरे अनुभूत हैं, मेरे मस्तिष्क ने (स्वप्नदशा में) इन सब को जोड़ दिया है। जागरित—अवस्था में भी ऐसा जोड़मेल संभव है। जब मैं ऐसी अवस्था की कल्पना कर सकता हूं, तो कागज़ पर इस अवस्था का चित्र खींचा जा सकता है। चूंकि मक्खी के पंख पर हाथी के नाचने का एक काल्पनिक चित्र—जो वास्तव में मिथ्या है, बन सकता है, इस वास्ते इससे यह परिणाम नहीं निकाला जा सकता, कि जिस सामग्री से इस काल्पनिक स्वप्न की सृष्टि हुई है, वह भी मिथ्या है। हमारे इस कथन का तात्पर्य यह है कि 'भ्रान्ति' के समस्त उदाहरणों के मूल में वास्तविकता होती है, चाहे वे उदाहरण स्वप्नों के हों, रज्जुसर्प के हों, शुक्ति रजत=सीप में चांदी के हों, अथवा मृगतृष्णिका के हों। यदि वास्तविक सर्प और असली रस्सी न होती और इन में सादृश्य या असादृश्य भी न होता, तो किसी को भी रज्जु में सर्प की भ्रान्ति न होती। मनुष्य को कभी रज्जु में सर्पभ्रान्ति और कभी सर्प में रज्जुभ्रान्ति हो जाती है किन्तु रज्जु को घोड़ा समझने की भूल या भ्रान्ति नहीं होती। क्यों? यतः रस्सी और घोड़े में अत्यन्त विसादृश्य है।

जादू या इन्द्रजाल का यहां प्रश्न नहीं है। जब मनुष्यों में विज्ञान का प्रचुर प्रचार न था, तब जादू लोकोत्तर या अलौकिक सामर्थ्य का फल माना जाता था। अब हरेक जानता है कि जादू हाथ की सफ़ाई या चालाकी मात्र है। जादू में दिखायी जाने वाली वस्तुएं वास्तव में होती हैं। वे देखने वालों की आंखों के सामने सहसा आ जाती हैं, मदारी चतुरता से स्वाभाविक क्रम को छिपा रखता है और दर्शक उसे आसानी से देख नहीं पाते।

यदि ब्रह्म ही एक वास्तव सत्पदार्थ है, और जीव सब मिथ्या है, या जीवों का अपने को ब्रह्म से भिन्न समझना भ्रान्ति है, तो प्रश्न होता है ब्रह्म में यह भ्रम आया कैसे? स्वप्नों के लिए स्वप्नों को देखने वाला चाहिए, भ्रान्ति के लिए भ्रान्ति को अनुभव करने वाला होना चाहिए। स्वप्न और भ्रम ब्रह्म की महिमा को बढ़ाते नहीं, वे त्रुटि की सूचना देते हैं। यदि ब्रह्म पूर्ण है, तो वह निर्विकार है। यदि वह निर्विकार और पूर्ण दोनों है, तो किसी भी दशा में उस का यह विचारना कि मैं अनन्त, अपरिच्छिन्न से भिन्न हूं असंभव है। रस्सी को सर्प मानना हमारी भूल है। यह ब्रह्म की भूल होगी, यदि वह अपने आपको सान्त, सुखदुःख और अन्य त्रुटियों का भागी समझने लग जाए। यह बहुत बार कहा जाता है, कि जैसे सूर्य्य अपने जलगत प्रतिबिम्बों से अछूता रहता है, इसी प्रकार परमात्मा भी जीवरूप अपने प्रतिबिम्बों से अपरामृष्ट=अछूता रहता है। यह दृष्टान्त आपाततः अशुद्ध है। जल में सूर्य्य का प्रतिबिम्ब सूर्य्य नहीं है, और न ही सूर्य्य जलगत प्रतिबिम्ब है। इसके अतिरिक्त यदि सूर्य्य के अतिरिक्त जल, वायुमण्डल आदि सत् पदार्थ न होते तो प्रतिबिम्ब ही न हो सकता। जीवों को ब्रह्म का प्रतिबिम्ब कहना सर्वथा व्यर्थ है। इस अध्याय को समाप्त करने से पूर्व हम

सर राधाकृष्णा का एक उद्धरण दे देना चाहते हैं—

"गौडपादाचार्य्य के सिद्धान्त के मूल में साधारण भावना यह है कि बन्ध, मोक्ष, जीव, संसार सब मिथ्या हैं, इस पर कार्य-कारणसंबन्धविवेचक यह आक्षेप करता है, कि यह सिद्धान्त ही मिथ्या है, क्योंकि इसके अनुसार मिथ्या जीव मिथ्या संसार में मिथ्या बन्ध से छुटकारा पाने, और मिथ्या शुभ कार्य्य करने का यत्न कर रहा है। यह कहना और बात है कि जीवन का भेद, अथवा अपने स्वभाव का बाध किए विना एक निर्विकार सत्पदार्थ इस विकारी=परिवर्त्तनशील संसार में अपनी सत्ता का प्रकाश किस प्रकार करता है–रहस्यमय है । और सारे संसार का मृगतृष्णिका की भांति अपलाप करना दूसरी बात है । यदि हमें जीवन का खेल खेलना है, तो हम इस विश्वास के विना यह खेल नहीं खेल सकते कि यह सारा एक आडंबर=दिखावा है, और समस्त पारितोषिक कोरे हैं । किसी भी दर्शन का यह सिद्धान्त नहीं हो सकता, और फिर वह अपने से सन्तुष्ट भी रहे । इस वाद का सब से बड़ा दोष यह है कि हम विवश होकर अपने को उन पदार्थों में उलझाए रखते हैं जिनकी सत्ता और उपयोग का हम वादरूप में निरन्तर अपलाप करते रहते हैं । संसारघटना रहस्य-मय और अव्याख्येय हो सकती है । इससे तो केवल यह सिद्ध होता है कि कोई अन्य ऐसा पदार्थ है, जो संसार में रहता हुआ संसार से बढ़कर और अतिरिक्त है । किन्तु इसका यह भाव कदापि नहीं कि संसार स्वप्न है ।

———

अष्टम अध्याय

श्रीरामानुजाचार्य्यकृत समाधान

"मनुष्य का व्यावहारिक जीवन दर्शनशास्त्र का मूल-आधार है। यदि कोई विचारधारा मनुष्य की मौलिक भावनाओं की तृप्ति और धर्म्म के गंभीर-आशय की व्याख्या नहीं कर सकती, तो वह कभी लोकप्रिय नहीं हो सकती। दार्शनिकों की वे कल्पनाएं जो हमारे श्रम और खेद का अपनोदन नहीं कर सकतीं, केवल बौद्धिक उधेड़बुनें हैं, वे गंभीर चिन्तन नहीं हैं। शङ्कर का स्थिर, गति-शून्य, निर्विशेष ब्रह्म, जो किसी को प्रेरित या प्रभावित नहीं कर सकता है, हमारी भक्ति का भाजन नहीं बन सकता है। ताजमहल की भांति, जो अपने संबन्ध में उत्पन्न प्रशंसा से अनभिज्ञ रहता है, निर्विशेष ब्रह्म भी अपने भक्तों की भीति या प्रीति से तटस्थ=बे परवा रहता है, और उन सब लोगों के लिए जो धर्म्म के ध्येय और दर्शन शास्त्र के ध्येय को एक मानते हैं—अर्थात् ब्रह्मज्ञान ही यथार्थ ज्ञान है ऐसा मानने वालों के लिए शङ्कराचार्य्य जी का सिद्धान्त ज्ञानियों की भूल का एक परिष्कृत उदाहरण है। उनको ऐसा भासता है कि जैसे यह वाद वैनयिक=सुशिक्षित-बुद्धि-प्राप्त जनों का सन्तोष नहीं कर सकता, वैसे ही जन-साधारण के मन का भी सन्तोष इस से नहीं होता। संसार एक रूपात्मक वस्तु माना जाता है, और परमात्मा निराकार निर्विशेष अप्रतर्क्य है जिस में प्रचण्ड प्रकाश है। प्रत्येक के अनुभव में यह बात आती है जब कि दुर्बल और स्खलनशील मनुष्य अपने अन्तस्तल से कृपाछाया की कामना करते

हैं, तो उन्हें अज्ञात कोण से सहायता प्राप्त हो जाती है। किन्तु इस अखण्डनीय अनुभव की उपेक्षा की जाती है। भक्तों को अपने कष्टमय जीवन में सखित्व की जिस जीती जागती भावना का भान होता है, श्री शङ्कराचार्य्य जी उसकी उचित संगति नहीं लगाते। वे कहते हैं कि अपनी मुक्ति के लिए अज्ञान के गंभीर सागर में अपने आपको डुबा दो। वैयक्ति महत्ता निर्विशेष महत्ता के अधीन कर दी जाती है किन्तु आस्तिक इस का विरोध करता हुआ कहता है कि 'सत्यं, शिवं; सुन्दरम्' स्वतः सिद्ध तत्व abstraction नहीं है। कर्तृविहीन अनुभव वदतोव्याघात है। सत्य शिव और सुन्दर एक ऐसे मौलिक मन का अनुमान कराते हैं जिस में ये सदा अनुभव होते रहते हैं। परमात्मा परम सत् और परम-अर्थ है। अपि च, परमात्मा का वास्तिवक स्वरूप केवल शाश्वत सत्य की अनुभूति, और पूर्ण सौन्दर्य का उपभोग ही नहीं, वरन् पूर्ण प्रेम भी है, जो अपने आपको दूसरों तक फैलाता है। विश्वात्मा के सान्त संसार का अर्थ=प्रयोजन तो आत्माओं से संबद्ध है, जिन्हें उस ने अपने आदर्शानुसार उन्नति करने की योग्यता प्रदान की है। परमात्मा की दृष्टि में आत्माओं की बुद्धि या गुणों के ही सूक्ष्म दर्जे, जिन को वे स्वयं अनुभव करते हैं, नहीं हैं, वरन् आत्माओं का अपना अर्थ=प्रयोजन भी है। इस से यह सिद्ध हुआ है कि वे तोड़ने और फेंक देने के लिए नहीं बनाए गए।*

श्रीशङ्कराचार्य्य जी का सिद्धान्त स्वीकार करने में जो बाधाएं उपस्थित होती हैं, राधाकृष्णा जी ने बहुत योग्यता से उनका परिगणन कर दिया है। भारत के एक और बड़े दार्शनिक विद्वान् श्री

---

* Radhakrishnan's Indian Philosophy, Vol. II. Pp. 659-660.

रामानुजाचार्य्य जी ने विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त प्रस्तुत करके समस्या का समाधान करने का यत्न किया है। रामानुज जी के सिद्धान्तानुसार "केवल ब्रह्म सत् है, ब्रह्मातिरिक्त जो कुछ भी भासता है, वह ब्रह्म का विस्तार, विशेषण या शक्ति है। ऐसे विशेषण चित=आत्मा और अचित या प्रकृति हैं।" "रामानुजाचार्य्य जी इन विशेषणों को सत्य और नित्य मानते हैं परन्तु इनके समस्त विकार आदि ब्रह्म के अधीन हैं। इन चित् और अचित् विशेषणों के होते हुए भी ब्रह्म की अद्वितीयता=एकता अक्षुण्ण बनी रहती है, क्योंकि ये चित् और अचित् ब्रह्म के बिना रह नहीं सकते अतएव वे स्वतन्त्र सत्ताएं भी नहीं। उनको ब्रह्म का प्रकार, शेष या नियम्य कहते हैं। इस प्रकार चित् अचित् को ब्रह्म का विशेषण मान कर ब्रह्म शब्द केन्द्रिय एकत्व का द्योतक होता है, और यदि संसार में ब्रह्म ही ब्रह्म की सत्ता मानें, तो फिर यह संयुक्त त्रित्व का बोधक हो जाता है।" ......"चिदचिदात्मक विशेषण को हम वस्त्वात्मक विशेषण कह सकते हैं, यदि ऐसा प्रयोग वैध हो। इसके अतिरिक्त परमात्मा के और भी अमूर्त abstract विशेषण या गुण हैं, जिनके द्वारा अनेक प्रकार से उस की पूर्णता की प्रतीति होती है।†

अर्थात्—

१. आत्मा सत्य और नित्य हैं।

२. वे ब्रह्म के वस्त्वात्मक विशेषण हैं।

३. अतएव उनकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है।

इतने अंश में यह सिद्धान्त शाङ्कर सिद्धान्त से अवश्य अच्छा है,

---

†Three Great Acharyas: The Philosophy of Ramanuja by Prof T. Rajagopalacharyar, M A., B.L. (published by G. A. Nateson & Co., pp. 152-153).

कि इसके अनुसार जगत् माया और मिथ्या नहीं है। किन्तु इतने से उलझन सुलझी नहीं। आत्माओं को इस वाद में 'प्रकार', 'शेष' 'नियम्य' माना जाता है। किन्तु समझ में नहीं आता कि जीव एक ही काल में 'प्रकार' 'शेष' या 'नियम्य' कैसे हो सकते हैं। ये तीनों शब्द पर्य्यायवाची नहीं है। प्रकार वही हो सकता है, जो विकार का विषय हो। परमात्मा निर्विकार और पूर्ण है, उसमें विकार नहीं होना चाहिए अतः उस के प्रकार भी नहीं होने चाहिएं। परमात्मा का किसी विकार या प्रकार का शिकार होना वैसा ही आक्षेपयोग्य है, जैसा कि उसका माया या अविद्या के अधीन होना। श्रीरामानुजाचार्य्य जी ने श्री शङ्कराचार्य्य जी के मायावाद पर यह आपत्ति उठाई है—

"अविद्या ब्रह्म पर साक्षात् प्रभाव नहीं डाल सकती क्योंकि ब्रह्म का स्वरूप ज्ञान है, और यह ज्ञान अपने स्वाभाविक सामर्थ्य से अविद्या का नाश कर देगा। (१) न ही जीवात्माओं पर इसका बस चल सकता है, क्योंकि यह तो अविद्या का परिणाम हैं, और अपनी उत्पत्ति से पूर्व इन पर कोई प्रभाव नहीं डाला जा सकता। (२) यह कहना भी अयुक्त है, कि अविद्या ब्रह्म को आवृत कर लेती है=ढक लेती है, क्योंकि इसका अर्थ होगा, कि ब्रह्म का प्रकाशस्वरूप अविद्या से नष्ट हो जाता है, किन्तु यह ग्राह्य नहीं है। (३) श्री रामानुजाचार्य्य के विचारानुसार अविद्या, जैसा श्रीशङ्कराचार्य्य जी ने उसका लक्षण किया है, समझ से बाहर की वस्तु है, क्योंकि मानवी बुद्धि किसी वस्तु में एक ही समय में सत् और असत् दो परस्पर विरोधी धर्म्मों का होना स्वीकार नहीं कर सकती। (४) श्री रामानुज के विचार में अविद्या को अनिर्वचनीय मानने से शङ्कराचार्य्य जी का पक्ष पुष्ट नहीं होता, क्योंकि

जो वस्तु सर्वथा अनिर्वचनीय है, अर्थात् जिस को सत् और असत् दोनों में से कुछ नहीं कहा जा सकता, वह वास्तव में असत् है, अर्थात उसकी सत्ता नहीं है। (५) रामानुजाचार्य्य यह भी कहते हैं कि ऐसी अनिर्वचनीय अविद्या की सत्ता प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों या श्रुति स्मृति से सिद्ध नहीं की जा सकती। (६) यदि ऐसी अविद्या हो भी, तो रामानुज जी का कहना है कि इसकी निवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि निर्गुण ब्रह्म का ज्ञान ही जो अविद्या का निवारक माना जाता है, असंभव है क्योंकि गुणरहित ब्रह्म की सिद्धि नहीं की जा सकती। (७) ऐसी अविद्या की निवृत्ति, एक और दृष्टि से भी असंभाव्य है। रामानुज के मतानुसार अविद्या कर्म्मज है, अतः ज्ञानकर्म्मसमुच्चय से ही उसकी निवृत्ति हो सकती है।‡

आइए, अब विचार करें, क्या रामानुजाचार्य्य का वाद उन आक्षेपों का अपेक्षाकृत अच्छा समाधान कर सकता है या नहीं? यदि जीव ब्रह्म के विशेषणमात्र हैं, तो दुःख, अविद्या और अन्य सारी न्यूनताएं परमेश्वर के ही धर्म्म मानने पड़ेंगे, क्योंकि नित्य ब्रह्म के गुण नित्य होते हैं, अतः बहुत से आक्षेप जो रामानुजाचार्य्य ने शांकर मत पर किए हैं, वे रामानुज के अपने पक्ष पर भी वैसे ही लागू होते हैं। कई तलवारें दोहरी धार वाली होती हैं, और दोनों ओर मार करती हैं। इस स्थिति में वस्त्वात्मक विशेषणों और अमूर्त Abstract विशेषणों का भेद भी समझ में नहीं आ सकता। वर्फ़ की सुफ़ेदी को Abstrat अमूर्त इस कारण नहीं कहा जा सकता

‡Three Great Acharyas: The Philosophy of Ramanuja by Prof. T. Rajagopalacharyar, M.A., B.L. (published by G. A. Nateson & Co., pp. 165-166).

कि सफ़ेदी उसमें से निकाली जा सकती है, और बर्फ़ सफेदी के विना रह जाती है, वरन् इस कारण कि यह गुण अन्यत्र भी विद्यमान है और कि मनुष्यबुद्धि इस का पृथक् ग्रहण कर सकती है। इस प्रकार के ज्ञान, आनन्द आदि ब्रह्म के भी अनेक गुण हैं। किन्तु जीवों को ब्रह्म के वस्त्वात्मक गुण कहने का क्या तात्पर्य है? या तो जीव अखंड ब्रह्म के खंड बनेंगे, जो असंभव है। अथवा ये भी पृथक् सत्तावान होंगे, यद्यपि देश और काल द्वारा अविभाज्य होंगे। उस अवस्था में वे ब्रह्म के नियम्य हो सकते हैं, किन्तु प्रकार नहीं। ब्रह्म शब्द का कभी केन्द्रिय सत्ता के अर्थ में प्रयोग करना और कभी कभी सम्मिलित त्रित्व के अर्थ में प्रयोग करना गोलमाल सी बात है, जिसका कोई फल नहीं है। आप एक शब्द हज़ारों अर्थों में प्रयोग कर सकते हैं किन्तु जब दार्शनिक विचार करने लगते हैं, तो यह आवश्यक है कि उस का भाव और परिभाषा सीमित=निश्चित कर दी जाए, और सारे सन्दर्भ में उसी पर आरूढ़ रहा जाए। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ब्रह्म शब्द अनेक स्थलों पर विभन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ है, किन्तु एक अर्थ का दूसरे के साथ गड़बड़झाला क्यों किया जाए। यदि चित् या जीव और अचित्=जड़ दोनों ही ब्रह्म के विशेषण और धर्म्म हैं, तो इन दोनों परस्पर विरोधियों की एक ब्रह्म में सत्ता कैसे संभव है। "रामानुज के मतानुसार अविद्या कर्म्मज होने के कारण ज्ञान कर्म्म के समुच्चय से निवृत्त की जा सकती है। ठीक है; किन्तु किस के कर्म्मों से? ब्रह्म के कर्म्मों से या ब्रह्म के विशेषणों के कर्म्मों से? रामानुज जी जीवों की पृथक् सत्ता मानते नहीं। "विशिष्टाद्वैती यह अदार्शनिक पक्ष नहीं लेता, कि जीव सर्वथा स्वतन्त्र सत हैं जिन

में पृथक् सत्ता और ब्रह्म से पृथक् क्रियाशक्ति विद्यमान है।" *

सच पूछो तो 'विशिष्टाद्वैत' शब्द किसी भी वैदिक ग्रन्थ में नहीं है, शङ्कराचार्य्य से अपना थोड़ा सा मतभेद दिखाने के लिए श्री रामानुजाचार्य्य ने यह शब्द घड़ा है। शाङ्कर मायावाद के खण्डन में हम उससे सहमत है। किन्तु उसके पक्ष से भी सन्तुष्टि नहीं होती है। द्वैतवाद से बचने के लिए रामानुज 'प्रकार' नामक एक परिभाषा और लाए हैं, जिसका उपनिषदों में कहीं भी दर्शन नहीं होता, और ब्रह्म से संसार की उत्पत्ति की व्याख्या करने का यत्न किया है। किन्तु उन का किया 'प्रकार' का व्याख्यान स्पष्ट नहीं है। शाङ्करी माया की भांति यह भी बुद्धि से परे है, दोनों ही दुर्ज्ञेय और अगम्य है। हम नीचे रामानुजभाष्य से तीन विशेष उद्धरण देते हैं।

(१) सूक्ष्म स्थूल चिदचिदात्मक शरीर वाला परमपुरुष=ब्रह्म ही कार्य्यवस्था वाला और कारणावस्था वाला होता है। सूक्ष्म चिदचिदात्मक शरीर वाला ब्रह्म ही कारण है। ब्रह्म को उपादान मानने पर भी संघात [चिद्+अचित्+ब्रह्म का संघात] उपादान कारण होगा, इस से चित् अचित् और ब्रह्म के स्वभाव की संकरता भी नहीं हो सकती है।

---

*Thice Great Achaiyas: The Philosophy of Ramanuja by Proj. T. Rajagopalacharyar, M.A., B.L. (published by G. A. Neteson & Co, pp. 153).

(१) कार्य्यावस्थः कारणावस्थश्च स्थूलसूक्ष्मचिद्-चिद्वस्तुशरीरः परमपुरुषः। सूक्ष्मचिदचिद्वस्तुशरीरं ब्रह्मैव कारणम्। ब्रह्मोपादानत्वेऽपि संघातस्योपादानत्वेन चिदचितो-र्ब्रह्मणश्च स्वभावासंकरोऽप्युपपन्नतरः॥

(२) किसी पट=वस्त्र का उपादान कारण श्वेत लाल काली तन्तुएं हों किन्तु चित्र (अनेक रंगों वाले) पट=कपड़े का तो उस तन्तुप्रदेश में ही सुफेदी से संबन्ध होता है, पटरूप कार्य्यावस्था में भी वर्णों का संकर नहीं होता। [अर्थात् किसी एक स्थान में सारे रंग इकट्ठे नहीं हो जाते, वरन् अपने अपने विभिन्न स्थानों में रहते हैं]। इसी प्रकार चित्-अचित् और ईश्वर के संघात को जगत् का उपादान कारण मानने पर भी कार्य्यावस्था में भोक्ता भोग्य और नियन्ता आदि का संकर नहीं होगा।

(३) पृथक् स्थिति में समर्थ और पुरुष की इच्छा से संहत= इकट्ठी हुई तन्तुएं ही कभी कारण और कभी कार्य्य बन जाती है। और यहां तो परम पुरुष का शरीर होने के कारण सब अवस्था में रहने वाले, चित् और अचित् ब्रह्म का प्रकार होने से पदार्थ होते हैं, अतः परमपुरुष उन का प्रकारी है। इतना विशेष है कि परम पुरुष

---

(२) यथा शुक्लरक्तकृष्णतन्तुसंघातोपादानत्वेपि चित्रपटस्य तत्तत्तन्तुप्रदेश एव शौक्ल्यादिसंबन्ध इति कार्यावस्थायामपि न सर्वत्र वर्णसङ्करः। तथा चिदचिदीश्वरसंघातोपादानत्वेपि जगतः कार्य्यावस्थायामपि भोक्तृत्वभोग्यत्वनियन्तृत्वाद्यसंकरः॥

(३) तन्तूनां पृथक्स्थितियोग्यानामेव पुरुषेच्छया कदाचित् संहतानां कारणत्वं कार्य्यत्वं च। इह तु सर्वावस्थावस्थितयोः परमपुरुषशरीरत्वेन चिदचितोः प्रकारतयैव पदार्थत्वात् तत्प्रकारः परमपुरुषः। सर्वदा सर्वशब्दवाच्यः इति विशेषः। स्वभावभेदस्तदसंकरश्च तत्र चात्र च तुल्यः।

(श्रीभाष्यभूमिका पृ०)

सर्वदा सब शब्दों का वाच्य रहता है। स्वभावभेद और उसका संकरभाव दोनों स्थानों में समान है।

डा० राधाकृष्णन् ने इस पर बहुत से आक्षेप किए हैं, उनमें से कुछ एक नीचे दिए जाते हैं—

(अ) यदि ब्रह्म पूर्ण पुरुष है, जिसमें समस्त जीव और संसार अन्तर्भुक्त है तो यह समझना कठिन है कि अपनी अपनी चेतना, पृथक् पृथक् प्रयोजनों और अर्थों के साथ सान्त जीव कैसे अपने को धारण करते हैं। एक आत्मा दूसरे का अंश नहीं हो सकता। रामानुज का ब्रह्म केवल परमात्मा ही नहीं है, वरन् वह **अनादि आत्माओं का एक अनादि संघ है**। किसी एक व्यक्ति को एक समय में ब्रह्म कैसे अपने अन्दर और बाहर कर सकता है? हम ब्रह्म को जीवात्माओं से विभिन्न समझ सकते हैं, वे जीवात्मा अपनी जीवन-सत्ता उसी ब्रह्म से प्राप्त करते हैं, जिसमें समस्त बुद्धिगम्य सत्ताएं सम्मिलित हैं। परमात्मा, आत्मा और प्रकृति मिलकर ब्रह्म हैं, अकेला परमात्मा ब्रह्म नहीं है। किन्तु रामानुज परमात्मा और ब्रह्म में अभेद मानते हैं, जिस ब्रह्म के अतिरिक्त और जिस ब्रह्म से भिन्न किसी अन्य पदार्थ की सत्ता ही नहीं है। जब वे (रामानुजाचार्य्य जी) अपने सिद्धान्त को बलपूर्वक 'अद्वैतवाद' कहना चाहते हैं, तो वह यह जानते हैं कि परमात्मा एक है और कि जीव और प्रकृति उस परमात्मा में क्षणिक स्थिति रखते हैं। जब वे जीवों की स्वतन्त्रता का प्रतिपादन करने में तत्पर होते हैं, तो उन की धारणा यह होती है कि समस्त जीवात्मा ज्ञानाधिकरण, ज्ञाता, स्वतोज्ञानवान्

हैं, यद्यपि सत्ता उन को ब्रह्म से मिलती है ।

(आ) ब्रह्म आत्माओं और प्रकृति का निमित्त कारण और उपादान कारण है । 'विकार ब्रह्म के देह में होते हैं किन्तु देही स्वयं निर्विकार बना रहता है,' (तत्त्वमुक्ताकलाप ३ । २५) । 'ब्रह्म से अतिरिक्त सारे पदार्थ, चाहे वे जड़ हों या चेतन, ब्रह्म का शरीर हैं, ब्रह्म ही उपाधिरहित शरीरी आत्मा हैं।' ब्रह्म का शरीर उपादान कारण है,और ब्रह्म का आत्मा निमित्त कारण है, इस प्रकार कहा जा सकता है, कि ब्रह्म जगत् का उपादान और निमित्त कारण दोनो है। भेद बना रहता है क्योंकि आचार्य्य रामानुज के मतानुसार ब्रह्मशरीर के विकारों से ब्रह्म-आत्मा विकृत नहीं होता, जैसे जीव के शरीर के विकारों से जीव विकृत नहीं होता । तब ब्रह्म-तत्त्व क्या वस्तु है, जो अविकृत बना रहता है ? चाहे प्रलय के समान सूक्ष्म अवस्था हो, या संसार के समान स्थूल अवस्था हो, अथवा मोक्षदशा के समान अपूर्ण न होती हुई भी वैयक्ति अवस्था हो, इन सब अवस्थाओं में ईश्वरतत्त्व का संसार से सर्वथा भेद होता है । ईश्वरतत्त्व ईश्वर की नित्यविभूति से भी भिन्न समझना चाहिए । यदि सत् चित् और आनन्द गुणों को, जो अन्ततो गत्वा गुण-धर्म ही हैं, पृथक् कर दें, तो ब्रह्म का स्वरूप समझना कठिन हो जाता है । और यदि ये गुण परमात्मा का वास्तविक स्वरूप हैं, तो इन में होने वाली विकारक्रिया का

---

* स्वव्यतिरिक्तचेतनाचेतनवस्तुजातं स्वशरीरमिति, स एव निरुपाधिकश्शारीर आत्मा ।

(रामानुजकृत वेदान्त भाष्य १ । १ । १३)

परिणाम ब्रह्म पर भी अवश्य होगा। क्या इस का यह अभिप्राय है कि परमात्मा निर्विकार नहीं वरन् स्वयं निर्माणावस्था में है? अन्ततः यह भेद भी नहीं ठहर सकता, कि ब्रह्म-आत्मा जगत् का निमित्तकारण है और ब्रह्म-शरीर उपादान कारण है। "यह असंभव है कि कुक्कुटादि का एक भाग पकाने के लिए लें और शेष अण्डे देने के लिए छोड़दें। यह तो विरुद्ध कार्य्य हैं।*

(ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य १. २. ८ पर आनन्दगिरि)

(इ) सारे 'अद्वैतवादों' में सान्त और अनन्त का संबन्ध ही हैरान करने वाली वस्तु है। सान्त सत्य सत्ताओं की शृंखला स्वयं अनन्त नहीं हो सकती। सान्त से ऊपर और भिन्न अवश्य कोई वस्तु होनी चाहिए। रामानुजाचार्य्य समस्त संसार की दशाओं को दो विभागों ज्ञान (चेतन) और प्रकृति में ग्रहण करते हैं और वे इन दोनों को एक दूसरे के अनुकूल वर्त्तमान देखते हैं और अतएव सिद्धान्त करते हैं कि एक परमात्मा है जो संसारकार्य को चलाता है। तर्क इसके अनुकूल है, धार्मिक भावना इसका समर्थन करती हैं और हम में से बहुत से इस को मान लेते हैं। किन्तु यह समस्या का समाधान नहीं है। यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि यह व्याख्यान **वास्तविकता के अन्तर्गत अवश्य है किन्तु वास्तविकता का व्याख्यान नहीं है।** हम यह कभी भी

---

* नहि कुक्कुटादेरेकदेशो भोगाय पच्येत एकदेशस्तु प्रसवाय कल्पते विरोधात् (ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य १. २. ८ पर आनन्दगिरि)

नहीं कह सकते, कि तथ्य जैसा कि वह है, वैसा वह क्यों है ? किन्तु तथ्य या सत् के अन्दर भी संबन्ध युक्तिपूर्वक निश्चित नहीं है। यदि सान्त का अर्थ प्रकृति और ज्ञान मान लिया जाए, तो दोनों परस्पर विरोधी धर्म्म एक तथ्य=सत् के नहीं हो सकते। या तो सब की एकता का और या धर्म्मों=गुणों के भेद का प्रकारान्तर से लापन=व्याख्यान करना पड़ेगा। रामानुज जी इस के लिए यह करते हैं कि वे इन दोनों जड़ चेतन को ब्रह्म में मिला देते हैं, जो एक वस्त्वात्मक अवयवी है, जिसके अवयय या मूलतत्त्व उस परमतत्व के द्वारा परमतत्व में संनिविष्ट घटक हैं, जो अपने आपको इन में संनिविष्ट रखता है। शङ्करा-चार्य्यजी के विरुद्ध उनका यह आक्षेप है कि वे ब्रह्म को इतना ऊंचा ले जाते है,कि मनुष्यता के तलहटी में लाने के लिए कोई मार्ग नहीं है। रामानुज जी हमें उनकी अपेक्षा अधिक सन्तोष-प्रद अद्वैत देना चाहते हैं जो न अभेदात्मक है और न ही अवयवों का समुदाय है किन्तु जिसमें सब भेद और संबन्ध समा जाते हैं। इस पर कोई पूछ सकता है कि ऐसी अद्वैत-भावना कोरी कल्पना है जिस का किसी प्रमाण से समर्थन नहीं हो सकता। हम एक भव्य बयान देने के लिए शब्दों का जोड़ तोड़ कर सकते हैं किन्तु इसमें सन्देह ही रहता है कि उसमें तदनुकूल सत्यता भी है।

(ई) प्राकृतिक यान्त्रिकता और आत्माओं का क्षेत्र इस अद्वैत में कैसे मेल खाते हैं ? यह बहुत अच्छी बात है यदि जगत् की अद्वैतता और आत्माओं का भेद साथ साथ स्थिर रखा जा सके। किन्तु यदि दुःख, और प्रयत्न, पाप और न्यूनताएं ब्रह्म का वास्तविक अंश है और ब्रह्म के मन में सदा अखण्ड

आनन्दात्मक ज्ञान के विशेष अंशों के रूपों में उपस्थित होते हैं, तो क्या ऐसी अवस्था में जीवात्मा परमात्मा के मन में केवल विशेष स्थिर तत्त्व नहीं है ? इसके विरुद्ध यदि हम पृथक् व्यक्तियां हैं, तो ब्रह्म भी अवश्य हम से पृथक्=भिन्न होना चाहिए ।

(उ) रामानुजाचार्य्य आत्मा और देह का दृष्टान्त इस दृष्टि से देते हैं कि देह उसके अन्दर रहने वाले आत्मा के बिना नहीं रह सकता । जब आत्मा चला जाता है शरीर नष्ट हो जाता है । और फिर, शरीर तो आत्मा को सुख दुःख भुगवाने के लिए होता है । शरीर का अन्तिम प्रयोजक आत्मा है । यदि इस दृष्टान्त को खींचा जाए, तो इसका अर्थ यह होगा कि परमात्मा ही सब कुछ है और कि आत्मा और देह केवल परमात्मा के आनन्दभोग का साधन हैं ।

(ऊ) रामानुजाचार्य्य कहते हैं, कि जीवात्मा शरीर के विकारों से विकृत नहीं होता है, यह स्वभाव से पवित्र है, प्रकृति की अंधियारी छाया केवल इसके महत्त्व को आच्छादित सा कर देती है, सर्वथा नष्ट नहीं करती है । प्राकृतिक अवस्था (शरीर से संबन्ध होना) एक आनुषंगिक घटना है, जिसे दूर किया जा सकता है । **प्राकृतिक अवस्था (शरीर से संबन्ध होना) पाप का फल है, किन्तु पवित्र आत्मा पाप पैदा नहीं कर सकती अतः पाप शरीरस्थ आत्मा के बिना नहीं हो सकता और पाप के बिना कोई आत्मा शरीरस्थ नहीं हो सकता ।** दूसरे आर्य्य दार्शनिकों की भांति रामानुजाचार्य्य भी संसार को अनादि मान

कर इस कठिनता से छुटकारा पाते हैं। किन्तु इससे जीव को सर्वथा विशुद्ध अध्यात्मिक मानना पड़ता है। पाप और दण्ड दोनों का वैषयिक क्रम=दृश्य जगत् से संबन्ध है। विशुद्ध कर्त्ता के साथ इन का कोई संबन्ध नहीं है, क्योंकि वह पाप कर ही नहीं सकता और यदि आत्मा पाप कर सकता है, तो मानना पड़ता है कि इसका प्रकृति के साथ पहले से संबन्ध है, तो फिर यह विशुद्ध आत्मा नहीं है, वरन् यह अनुभवशील आत्मा है। जब हम यह कहते हैं कि यह वैषयिक क्रम=दृश्य जगत् अनादि है, तो हमें एक ओर विशुद्ध आत्मा मिलता है और दूसरी ओर दृश्य; दोनों ही निर्विशेष सत् हैं क्योंकि उनके अतिरिक्त उनका रहस्य समझाया नहीं जा सकता। आत्मा स्वभाव से पवित्र है, शरीर का इस पर फन्दा पड़ा है। यह कैसे संभव होता है?'

इतने लंबे उद्धरण देने के लिए हम पाठकों से क्षमा चाहते हैं। किन्तु विषय के स्पष्टीकरण के लिए ऐसा करना आवश्यक प्रतीत होता था। इसकी अधिक समालोचना के लिए राधाकृष्णनकृत Indian Philosophy Vol II में 'रामानुज' प्रकरण देखिए।

नवम अध्याय

स्वामी दयानन्द के विचार

शङ्कराचार्य्य जी तथा रामानुजाचार्य्य जी मध्यकालीन भारतीय दार्शनिक आकाश के अत्यन्त प्रकाशमान नक्षत्र हैं, और समस्त भारतीय शिक्षित जनसमूह क्रियात्मक रूप में दोनों में से किसी न किसी का अनुयायी है। स्वामी दयानन्द का आविर्भाव वर्त्तमान समय में—विक्रम की उन्नीसवीं शताब्दी में—हुआ, वे दार्शनिक की अपेक्षा समाजसुधारक एवं आर्य्यसमाज के संस्थापक के रूप में अधिक प्रसिद्ध हैं। किन्तु भारतीय दर्शन में उनकी देन नगण्य-तुच्छ-नहीं है। इस प्रकृत प्रश्न को सुलझाने के लिए जो समाधान उन्होंने प्रस्तुत किया है, वह ओजस्वी, सीधा, स्पष्ट और प्रौढ है। शङ्कराचार्य्य और रामानुजाचार्य्य की भांति वे भी प्राचीन वैदिक दर्शनशास्त्र के भक्त हैं और अपने पक्ष के समर्थन में उन्होंने अनेक वैदिक ग्रन्थों की व्याख्या का यत्न किया है। वे शङ्कराचार्य्य के मायावाद का, अविद्या के संबन्धी या दार्शनिक भ्रम की भांति, खण्डन करते हैं। वे रामानुजाचार्य्य की ब्रह्म की गोलमोल परिभाषा का सहारा नहीं लेते हैं। वे अक्षरों के उपासक नहीं हैं, और न ही वे किसी निश्चित घड़े घड़ाए काल्पनिक वाद के पुजारी हैं। सत्य ही दर्शन शास्त्र का लक्ष्य है, न कि यह और वह वाद। वे यह नहीं कहते कि संसार में बहुत्व=अनेकता भ्रम है। वे कहते हैं यदि ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं, और ब्रह्मातिरिक्त सब भ्रम है, तो इस भ्रम का कोई स्पष्टीकरण होना चाहिए। भ्रम कैसे उत्पन्न होता है? और यह

भ्रम किस को होता है ? इस में सन्देह नहीं कि संसार में एकता है, किन्तु एक और एकता में भेद है। यह कहना कि केवल एक ही सत्पदार्थ है, एक बात है, और यह कहना कि सारे सत्पदार्थ, अनेक होते हुए भी परस्पर संबद्ध हैं, एक दूसरी बात है।

अनेकता तो आपातत: प्रतीत हो रही है। आप इसका अपलाप नहीं कर सकते। इसे भ्रम कह लीजिए, इसे स्वप्न कह लीजिए। यह तो है। इसके समाधान (स्पष्टीकरण) करने के लिए दो वाद प्रस्तुत किए जाते हैं। शङ्कराचार्य्य जी के वाद का नाम 'विवर्त्तवाद' है ,अर्थात् एक सत्पदार्थ का नानात्वप्रतीतिरूप भ्रम। रामानुजाचार्य्य के वाद को 'परिणामवाद' कह सकते हैं अर्थात् एक का अनेक में परिणत होना*। विवर्त्तवाद का उदाहरण स्वप्न है,स्वप्न देखने वाला एक है किन्तु वह स्वप्न में ऐसे अनेक पदार्थों को देखता है, जिनकी उससे व्यतिरिक्त कोई सत्ता नहीं है। परिणामवाद का उदाहरण सुवर्ण है, सुवर्ण=सोना एक है, किन्तु वह रुचक, कुण्डल, स्वस्तिक आदि नाना आकारों में परिणत होता है। रामानुजाचार्य्य के मत में एक महाकारण अपने आपको नाना पदार्थों में परिणत करता है, वे नाना पदार्थ मिलकर ही संसार हैं। ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण भी है और उपादान भी। इतनी बात

---

*यस्तात्त्विको ऽन्यथाभावः परिणाम उदीरितः।
अतात्त्विको ऽन्यथाभाव विवर्त्तः स उदीरितः॥

(वेदान्तसार ७२)

किसी वस्तु का यथार्थ में दूसरा रूप धारण करना 'परिणाम' कहलाता है; किसी का अयथार्थ में दूसरा रूप धारण करना 'विवर्त्त' कहलाता है।

शङ्कराचार्य्य जी को भी अभिमत है, वे भी ब्रह्म को जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण मानते हैं। यदि ऐसा है, तो प्रश्न होता है कि कैसे निर्विशेष=निर्गुण ब्रह्म इस विशेषतापूर्ण, गुणमय संसार को अपने में से उत्पन्न करता है। लो० बालगंगाधर तिलक ने अपने गीतारहस्य में विस्तार से इसका विवेचन किया है। वे लिखते हैं—

"विवर्त्तवाद का मुख्य उद्देश्य इतना ही दिखला देना है कि **एक ही निर्गुण ब्रह्म में माया के अनेक दृश्यों का हमारी इन्द्रियों को देख पड़ना संभव है।** यह उद्देश्य सफल हो जाने पर अर्थात् जहां विवर्त्तवाद से यह सिद्ध हुआ कि एक निर्गुण परब्रह्म में ही त्रिगुणात्मक सगुण प्रकृति के दृश्य का देख पड़ना शक्य है, वहां वेदान्त-शास्त्र को यह स्वीकार करने में कोई भी हानि नहीं कि इस प्रकृति का अगला विस्तार गुणपरिणाम से हुआ है।" (हिन्दी गीता रहस्य पृ० २४२)

स्वामी दयानन्द इस वाद के मूल पर प्रहार करते हैं। वे कहते हैं, जब तक माया को एक भिन्न सत्पदार्थ न माना जाए, और द्वैतवाद के लिए मार्ग का परिष्कार न किया जाए तब तक यह कहना व्यर्थ है, कि एक निर्विकार ब्रह्म, जिसमें किसी प्रकार की न्यूनता=त्रुटि नहीं है, मायावश होकर भिन्न प्रतीत होने लगे। सांप रस्सी प्रतीत हो सकता है किन्तु उस को जो सांप से सर्वथा पृथक् तथा भिन्न है और जिसकी दृष्टि में दोष है। यदि सांप ही एक अकेला पदार्थ होता तो विवर्त्त या भ्रम का कोई प्रसंग ही न होता। एक बात यह भी है कि जगत् में हमें ऐसे उदाहरण तो मिलते हैं, जहां परिणाम के बाद विवर्त्त होता है किन्तु इस से उलट अर्थात् विवर्त्त

के बाद परिणाम का कोई दृष्टान्त नहीं मिलता। यह तो संभव है कि दूध जो परिणाम की प्रक्रिया से दही बन चुका है, किसी समय विवर्त्त या भ्रम के कारण रूई का फाहा प्रतीत होने लग जाए। किन्तु यह सर्वथा असंभव है कि दही पहले विवर्त्त के कारण रूई प्रतीत हो, और फिर इस प्रकार भ्रम-जनित रूई परिणाम की प्रक्रिया से, कमीज़ कोट या कोई दूसरा आकार धारण करले। वास्तविक सत्पदार्थ और प्रतीयमान सत्पदार्थ की परीक्षा यह है कि वास्तविक सत्पदार्थ में कार्य्यशृङ्खला संभव है, और प्रतीयमान मे यह नहीं हो सकता। मृगतृष्णिका के जल से न किसी की प्यास बुझ सकती है, और न ही इस की फर्फ़ बन सकती है। अतः स्वामी दयानन्द जी इन दोनों वादों—विवर्त्तवाद और परिणामवाद—को अस्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि संसार में भिन्न भिन्न अवस्थाओं के कारण भिन्न भिन्न स्थलों में—कहीं विवर्त्त और कहीं परिणाम—दोनों ही कार्य्य करते देखे जाते हैं। एकान्ततः विवर्त्तवाद के सहारे या एकान्ततः परिणामवाद के सहारे सृष्टि की समस्या नहीं सुलझाई जा सकती। वे इन्द्रियों के साक्ष्य अर्थात् प्रत्यक्ष प्रतीति का अपलाप नहीं करते। यद्यपि वे मानते हैं, कि किन्हीं प्रतिबन्धों के कारण इन्द्रियां भ्रान्त हो सकती हैं, किन्तु इनकी भ्रांति पकड़ने और इस दुर्वलता का परिहार करने के साधन हैं। इन्द्रियां हमें धोखा देने के लिए नहीं दी गई। हम ही अपने किसी दोष के कारण इन्द्रियजन्य ज्ञानको कुछ और का और समझते हैं और अशुद्ध निष्कर्ष निकालते हैं यह ठीक है कि हमारी इन्द्रियों की शक्ति परिमित है, और हमारा ज्ञान बहुत कुछ अधूरा रहता है। किन्तु हमरे ज्ञानार्जन में प्रत्यक्ष= इन्द्रिजन्य ज्ञान का बहुत बड़ा स्थान है, उस को न तो तिरस्कृत ही किया जा सकता है, और न ही उस का महत्त्व कम किया जा

सकता है। गौडपादाचार्य्य का यह कहना कि 'समस्त ऐन्द्रियिक भाव दृश्य होने के कारण मिथ्या है,* अत्यन्त भ्रामक है।

प्रत्यक्ष से आरंभ करके और अनुमान के ऊंचे सोपानों पर आरूढ़ होकर स्वामी दयानन्द इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि 'संसार सत्य है, और कि यह केवल एक पदार्थ-ब्रह्म या ईश्वर—का कार्य्य=विकार नहीं है। वे परमात्मा, आत्मा और प्रकृति—ये तीन अनादि मानते हैं, ये तीनों अजन्मा और अविनाशी हैं, किन्तु आत्मा और प्रकृति परमात्मा से संबद्ध हैं, परमात्मा इन का शासक और गुरु है। परमात्मा अनन्त ज्ञानवान् (सर्वज्ञ), अनन्त बलवान् (सर्वशक्तिमान्) और सर्व व्यापक है, आत्माओं की ज्ञानशक्ति विकारिणी=परिवर्त्तनशील है और प्रकृति जड़=ज्ञानशून्य है। यह दृश्यमान जगत् दो पदार्थों—चेतन जीवात्मा=चित् और जड़ प्रकृति=अचित्—के संयोग से बना है। इन्द्रियों समेत हमारे शरीर प्रकृति से बने हैं किन्तु उन के अन्दर कार्य्य करने वाले आत्माओं के कारण वे जीवित बना दिए जाते हैं, शरीर का कार्य्य शरीर के अन्दर रहने वाले आत्मा की चेष्टा के अनुसार होता है, जैसा कि मेरी इच्छा के अनुसार ही मेरी लेखनी लिखती है। परमात्मा चित् और अचित्—आत्मा और प्रकृति से ऊपर है। एक अंश में वह चित् या आत्मा के समान है। वह जानता है और पूर्णतया जानता है। किन्तु उस पर आत्मा के से बन्धन या प्रतिबन्ध नहीं हैं। आत्माओं को जो प्रत्यक्ष, अनुमान उपमान आदि द्वारा क्रम से ज्ञान होता है, परमात्मा को वह पहले ही स्वभाव से

---

* जाग्रद्दृश्यानां भावानां वैतथ्यं दृश्यमानत्वात्॥
(गौडपादीय कारिका पर शांकरभाष्य)

ज्ञात है। मोटे रूप से कहना हो तो यों कह सकते हैं, 'हमें ज्ञान मिलता है, और परमात्मा में ज्ञान सदा से है।'

आत्मा और प्रकृति कैसे परमात्मा के वश=शासन में आ गए हैं, इस शङ्का का समाधान स्वामी यह देते हैं कि वे सदा से ऐसे हैं, और 'क्यों' और 'कैसे' प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होते। यदि यह पूछा जाए कि यहीं क्यों ठहरते हो? इस का उत्तर स्वामी दयानन्द यह देते हैं कि मूल तत्त्वों की खोज में हम एक विशेष सीमा से आगे नहीं जा सकते। 'अनिर्वचनीय अनादि माया' या इसी प्रकार के अन्य किसी व्यर्थ और उपहासास्पद वाद की खिलवाड़ करने की अपेक्षा यह कहीं अच्छा है कि हम यहीं ठहर जाएं और अपनी असमर्थता स्वीकार करें।

कइयों का कहना है कि मनुष्य की दार्शनिक जिज्ञासा एक से अधिक तत्त्व मानने से शान्त नहीं हो सकती और कि समस्त दर्शनशास्त्र का उद्देश्य सब वस्तुओं को एक करने में है। इस आक्षेप का समाधान यह है कि दर्शनशास्त्र का उद्देश्य सत्य की खोज है, न इससे कुछ अधिक और न कुछ न्यून। कई दार्शनिकों ने यह विपत्ति व्यर्थ ही अपने सिर सहेड़ ली है कि जैसे भी हो सब को एक ही सिद्ध करदें जो किसी भी प्रकार एक नहीं बन सकते। हमारा उद्देश्य सत्य की खोज करके तदनुसार आचरण करना है, न कि सत्य को अपनी कल्पनाओं के अनुसार ढालना। 'जोड' का निम्नलिखित सन्दर्भ विचारने योग्य है—

"इस में मतभेद नहीं है, कि अद्वैतवाद में बहुतों को आकर्षण है।......किन्तु जो इसे अंगीकार करते हैं, उन्हें आरंभ से एक बड़ी समस्या का सामना करना पड़ता है......। वह समस्या यह है कि मूल तत्त्व का, जो एक है, और प्रतीयमान पदार्थों का,

जो अनेक है, परस्पर क्या संबन्ध है ? यदि हमें एक ही यथार्थ पदार्थ का प्रतिपादन करना है, तो इस नानात्वाप्रतीति का समाधान हमारे पास क्या है ?

एक की अनेक के साथ संगति करने की समस्या से बाधित होकर कई विचारकों ने एक ऐसा समाधान प्रस्तुत किया है, विशुद्ध वैयक्तिक छाप की अपेक्षा दार्शनिक छाप दिखाना जिसका उद्देश्य प्रतीत होता है, मेरे विचार में हमें तत्काल उस का तिरस्कार कर देना चाहिए। संसार में तो स्पष्टतया अनेकता प्रतीत हो रही है, और वे एकता के लिए आपाततः प्रमाण खोजते हैं। यतः पदार्थों के बाह्य आकार में कोई ऐसी चीज़ प्रतीत नहीं होती जो इन की एकता का भान कराए, अतः उन्हों ने यह स्वीकार किया है कि एकता की प्रतीति मानवीय आत्मा की मौलिक आवश्यकता से उत्पन्न होती और झलकती है। इस विचार के अनुसार एकता की प्रतीति का यथार्थता में कोई आवश्यक तद्रूप भाग नहीं है, अथवा यदि ऐसी कोई तद्रूपता है तो हम नहीं जान सकते कि ऐसी कोई तद्रूपता है। यह केवल मनुष्य के विचार करने की आवश्यकता का बोधकराती है, और केवल मानवीय आवश्यकता के वैशिष्ट्य को प्रकट करती है।

यह सर्वसम्मत और निश्चित ही समझना चाहिए कि यह विचार चाहे कितना ही आकर्षक और आवश्यक हो, किन्तु ऐसा नहीं कि जिस पर अद्वैतवाद सिद्धान्त की स्थिर नीव रखने की आशा की जा सके। और यह भी कुछ कम निश्चित नहीं कि अनेक दार्शनिकों की इच्छा से अधिक इस वाद ने ऐसी सुविधा प्रस्तुत की है। ऐसी दार्शनिकता का मूल स्रोत यह विचार है कि

संसार अवश्यमेव किसी सीमा तक हमारी इच्छाओं के अनुसार होना चाहिए। अध्यात्मिक समस्याओं का समाधान करते समय अनजान में दार्शनिकों ने अपनी इच्छाओं को सामने रखा है, और ऐसे दर्शन रचे जिनमें उनकी झलक है। उन्होंने विचारार्थ प्रस्तुत हुए वाद में सत्य खोजने का यत्न नहीं किया वरन् यह जानने का यत्न किया है कि जिस सिद्धान्त को यह वाद सत्य बतलाता है, वह अभीष्ट भी है, और इस प्रकार उन्होंने अभीष्टता की भावना को, जो यथार्थता की जांच में यथार्थविषयक हमारी अपनी ही भावनाओं की झलक है, बहुत महत्त्व दे दिया है।

यह स्वीकार करके कि एकता की भावना आत्मा की एक शिक्षाप्रद और सार्वत्रिक कामना है……हम पूछना चाहते हैं कि क्या पूर्वकथित अर्थ में मौलिक एकता का सिद्धान्त सार्वत्रिक कामना है। ऐसी इच्छा है, इसमें तो किसी को विवाद नहीं है। किन्तु दर्शनशास्त्र का इतिहास बताता है कि यह सार्वत्रिक नहीं है….अतः एव यथार्थ पदार्थ एक नहीं किन्तु दो हैं*।" यहां 'दो' का अर्थ एक से अधिक अर्थात् अनेक है।

*C. E. M. Joad's 'Matter, Life and Value' (pp. 31 to 37 and 71).

दशम अध्याय

पारस्परिक संबन्ध और अनेकता

कहते है किसी ने एक समय दलाई लामा से प्रश्न किया–'सत्य किसे कहते हैं?' उसने तुरत उत्तर दिया, "मित्र! संसार में 'सर्वथा सत्य' नामक कोई वस्तु नहीं है, सब वस्तु सापेक्ष हैं।" समस्त संसार को कुछ संबन्धों का समूहमात्र कहने की प्रवृत्ति अनेकों में रही है। इसी आधार पर ही समस्त संसार को उड़ा दिया गया है। यदि संबन्धसमूह के अतिरिक्त कोई भी मौलिक वास्तविक वस्तु नहीं है, तो इन संबन्धों की स्थिति के लिए भी कोई सुरक्षित आधार नहीं है। यह एक गंभीर प्रश्न है कि संबन्धी वस्तुओं के विना संबन्ध कैसे रह सकते हैं। राम और लक्ष्मण में परस्पर भाइयों का संबन्ध है। यह भ्रातृत्व दोनों को मिलाने वाली कड़ी है। क्या वे एक दूसरे से निरपेक्ष होकर भाई हो सकते हैं? यदि लक्ष्मण न होते तो क्या राम को आप भाई कह सकते? सर्वथा नहीं। तब, सापेक्षवादियों का कहना है कि भ्रातृत्व न राम में है और न लक्ष्मण में, और न ही राम लक्ष्मण से बाहर। जहां तक भ्रातृत्व=भाईपन का संबन्ध है, न राम भाई है और न ही लक्ष्मण। भ्रातृत्व की दृष्टि से राम और लक्ष्मण अभावमात्र हैं, उनकी सत्ता ही नहीं है। यदि हम एक बार यह सिद्ध कर सकें, कि राम और लक्ष्मण नामक कोई वास्तविक पदार्थ नहीं है, तो हमारे लिए यह बताना कठिन हो जाएगा, कि भ्रातृत्व संबन्ध कहां रहता है। किन्तु इसका समाधान वे यों करेंगे कि यह किसी ऐसी वस्तु की सत्ता

सिद्ध करना, जिसमें यह संबन्ध रह सकें, हमारा काम नहीं है। हमारा काम ऐसी वस्तु की सत्ता का निषेध करना है। जब एक बार यह सिद्ध कर दिया गया, कि भ्रातृत्व का संबन्ध राम लक्ष्मण में से किसी में नहीं रहता, तो भ्रातृत्व के सहारे राम लक्ष्मण की सत्ता सिद्ध करना व्यर्थ है। दूसरे शब्दों में राम लक्ष्मण दोनों उड़ जाएंगे, और केवलमात्र 'भ्रातृत्व' संबन्ध बच रहेगा। और चूंकि यह संबन्ध अपने आधार (आधार तो इसका कोई है नहीं) पर ठहर नहीं सकता तो यह भी हवा में उड़ जाएगा, और समस्त मूलभूत संसार शून्य हो जाएगा। इस प्रकार संबन्ध अग्नि के समान हैं, जो पहले अपने ईंधन को जलाता है, और फिर ईंधन के न होने से अपना भी सफ़ाया कर देता है।

इस सापेक्षवाद को दो संप्रदायों ने माना है। एक शून्या-वादी ने, जो यह मानता है कि वास्तव में सब अभावात्मक है, और दूसरे अद्वैतावादी ने, जिसके मन में यह अनेकता और भेद वाला संसार केवल कल्पना है और इसकी सत्ता सर्वथा नहीं है। शङ्कराचार्य्य और दूसरे प्रमुख अद्वैतियों ने दो भिन्न अवसरों पर दो सर्वथा भिन्न दृष्टिकोणों से इस सापेक्षवाद का प्रयोग किया है। जब अनेकता और भेदयुक्त संसार की यथार्थता का निषेध करमे लगते हैं, तो उसी प्रबलता से तर्क करते हैं, जिस प्रकार कि शून्यवादी। क्यों? उनका उद्देश्य एक है। दोनों ही चाहते हैं कि संसार की अनेकता और भेद को पहले संबन्ध-समूह का रूप देकर उड़ाया जाए, और फिर संबन्धों का मिथ्यात्व दिखाकर। किन्तु जहां शून्यवादी प्रत्येक वस्तु के सर्वथा निषेध से सन्तुष्ट हो जाता है वहां अद्वैती स्थूल संसार को उड़ाने के बाद चिल्ला कर ठहरने को कहता है, क्योंकि वह एक निर्विशेष (ब्रह्म) की सत्ता

का निषेध नहीं करना चाहता। हम ने इस पुस्तक के आरंभ में बताया है, कि किस प्रकार शङ्कराचार्य्य जी आत्मा को सब चेष्टाओं का आधार मानने पर बल देते हैं *। किन्तु जब दो भिन्नस्थलों से उन की युक्तियों को लेते हैं, और मेलान करने के लिए साथ साथ रखते हैं, तो उनमें इतना विरोध मिलता है कि जिस की संगति=समन्वय नहीं हो सकता। संबन्धों की अपनी सत्ता है या नहीं। यदि संबन्धों की अपनी सत्ता है, तो वे उन पदार्थों की भी सिद्धि कर देंगे, जो संबन्ध वाले हैं=परस्पर संबन्धी हैं, क्योंकि संबन्धी पदार्थों के अभाव में संबन्धों का कोई अर्थ ही नहीं। यदि भाई ही नहीं, तो भ्रातृत्व का क्या अर्थ ? यदि जैसा कि अद्वैती कहते हैं कि इन संबन्थों की अपनी सत्ता कोई नहीं, तो इन संबन्धों के आधार की सत्ता सिद्ध करने के लिए अनेकता और भेद वाले संसार की सत्ता सिद्धि करनी होगी। यदि संबन्ध दोनों खूंटों पर लटकने वाली रस्सी के समान हैं, तो खूंटों का द्वित्व (दो होना) का तब तक निषेध नहीं किया जा सकता जब तक कि संबन्धों की रस्सी की सत्ता मानी जा रही है।

यह हमें स्वीकार है, कि हमें संबन्धों का ज्ञान होता है, किन्तु यह संबन्ध न तो शून्यवाद की सिद्धि करते हैं और न ही विशुद्ध अद्वैतवाद की। इस विषय को स्पष्ट करने के लिए हम नीचे जोड की युक्तियां उद्धृत करते हैं—

"मेरे विचार में यह स्वीकार करना चाहिए कि संसार का प्रत्येक पदार्थ सादृश्य या विसादृश्य (समता या विषमता) के संबन्ध से दूसरे पदार्थ के साथ संबद्ध है। किन्तु यह स्पष्ट है कि

---

* प्रथमाध्याय के अन्त में

यह संबन्ध तभी हो सकता है, जब कोई संबद्ध होने वाली वस्तु हो, यही वह तत्त्व वस्तु है जो संबद्ध है और चूंकि यह संबद्ध है और इसके सबन्ध हैं, अतः यह अपने संबन्धों से अभिन्न, अपने संबन्धों का तदात्मा नहीं हो सकती। यदि तत्त्वपदार्थ सचमुच संबन्धों से बना होता, तो यह कभी भी युक्ति से उनसे विविक्त न किया जा सकता, और फिर उनमें (संबन्धों में) विलीन हो सका करता। इस वास्ते 'तत्त्व पदार्थ' का अर्थ 'संसार के समस्त अन्यपदार्थों के साथ तत्त्व पदार्थ के संबन्ध' हमें मानना होगा (यह मान कर कि यदि अपने संबन्धों से स्वतन्त्र पृथक् कोई तत्त्व पदार्थ होता है, जो इस विचार के अनुसार है नहीं); अतः वह जिसे संबन्ध संबन्धी बनाते हैं, जिसके संबन्ध हैं, विश्लेषण करने पर अपने आप 'संबन्ध'-मात्र सिद्ध हो जाता है। यतः यह विश्लेषण संसार के दूसरे तत्त्वपदार्थों पर भी, जिनका 'तत्त्वपदार्थ' से संबन्ध है, लागू होता है, अतः यह सारा संसार संबन्धमात्र बन जाता है, और इन संबन्धों को संबद्ध करने वाला कोई पदार्थ नहीं रहता। अतः संबन्धों की बाह्यता का निषेध संबन्धियों का निषेध सिद्ध करता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि आप पदार्थों का सर्वथा निषेध किए विना उनके निरालेपन और तर्कसिद्ध स्वतन्त्र सत्ता का खण्डन नहीं कर सकते। निस्सन्देह संसार सजातीय पदार्थों का समुदाय सिद्ध होता है। यह सिद्ध किया जा चुका है कि यह पदार्थों से शून्य है, अतएव स्पाईनोज़ा के समुदाय की भांति यह समूह कोई एकता है, यह किसी का समूह नहीं। मेरे विचार में इत तर्क से जो कठिनता हमें प्रतीत होती है, उसका कारण वस्तु—स्वरूप के समझने में अस्पष्टता है। यदि 'वस्तु के स्वरूप' में वस्तु-संबन्धी सभी तथ्य सम्मिलित हैं, तो यह परिणाम निकलता है कि

एक वस्तु के अन्य सब वस्तुओं के साथ के संबन्ध, जो वास्तव में उसके तथ्य के भाग है, इस वस्तु का स्वरूप हैं। इस से यह भी परिणाम निकलता है कि हम किसी वस्तु को तब तक नहीं जान सकते, जब तक कि इसके संबन्ध में जानने योग्य सब कुछ न जानलें। इस का अर्थ हुआ कि संसार के प्रत्येक पदार्थ को, जिस के साथ इसका संबन्ध है, जानना। किन्तु इस प्रश्न में **तथ्य इस वास्ते सत्य हैं कि वह वस्तु से संबन्ध रखते हैं, और उनके सत्य सिद्ध होने को एक वस्तु है जो उन से भिन्न है।** उदाहरणार्थ—यह सत्य है कि यदि अण्डा देर तक रखा जाए, तो दुर्गन्ध देने लग जाएगा, किन्तु यह सच्चाई इस वास्ते सच है कि अण्डा है, और अण्डा, इस सच्चाई से, कि सच्चाई ठीक है, सर्वथा स्वतन्त्र है। वह सच्चाई यदि अण्डे का अंश होती तो सच्चाई अपने विषय में सच्चाई होती, और अण्डा स्वविषयक सच्चाइयों (तथ्यों) का समुदायमात्र होता। और वे तथ्य किसी अन्य वस्तु के विषय में न होकर एक दूसरे के विषय में होने के कारण सत्य ही न रह सकते।

वस्तु का अपने संबन्धों के कारण बोध होता है, और इसे संबन्धों के कारण बोध्य कहकर हम यह सिद्ध कर रहे हैं कि **यह उन संबन्धों से व्यतिरिक्त पृथक् स्वतः कुछ है।** यह केवल उनसे पृथक् स्वतः ही नहीं, वरन् तर्कानुसार उन (संबन्धों) से पहले है। **किसी वस्तु के कारण ही उसके संबन्धों का निर्धारण होता है, वे संबन्ध वह वस्तु नहीं।***

अंग्रेज़ मायावादियों के अद्वैतवाद के संबन्ध में कहते हुए जोड कहता है—

* C. E. M. Joad's 'Mattei, Life and Value' P. 50. 51.

अनेकता और भेद की सचमुच सत्ता भासती है, यह प्रतीति या तो पारमार्थिक (यथार्थ) हो सकती है या भ्रान्त। आओ, हम पहले इसे पारमार्थिक मान लें, तब अनेकता और भेद भी पारमार्थिक (यथार्थ) हुए। इस वास्ते वे भी यथार्थ के अर्थात् निर्विशेष Absolute के रूप हुए। इस वास्ते निर्विशेष Absolute के भी भाग हुए जिन में कदाचित् क्षणिक रूप में और विशेष प्रयोजनों के लिए यह अपने आप को विभक्त कर सकता है। इन विभागों की प्रक्रिया कैसे चलती है? यह तो स्पष्ट है कि यह बाहर के प्रभावों का परिणाम तो हो नहीं सकता, क्योंकि निर्विशेष Absolute से बाहर और अतिरिक्त कोई वस्तु है नहीं। तब उस निर्विशेष Absolute में आत्मविभाजन की स्वाभाविक प्रवृत्ति का गुण होना चाहिए। किन्तु इस कहने का अर्थ तो यह हुआ कि समस्त भेद और अनेकता जो फलतः हमें प्रतीत हो रही है, वास्तव में निरावरणरूप में स्वयं वास्तविक वस्तु है। इस बात का कि अनेकता को 'सत्' में प्रसुप्त माना जाए न कि उदार, प्रकृत प्रश्न पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। कम से कम हम यही कह सकते हैं कि 'सत्' अपने आपको अपने उन समस्त खण्डों और फलित अनेकताओं के, जो हमारे अनुभव में आती हैं, 'आधार'='धारक' के रूप में प्रकट करता है और कि यह 'आधारता=धारकता' किसी प्रकार के विकास के फल से होने वाले खण्ड की 'धारकता' नहीं है, वरन् यह उस विशेष खण्ड की है, कि जिस का फल प्रतीत होने वाली अनेकतारूप विकास है न कि कोई और अनेकता। अतः आप भेद के, विशेष प्रकार के भेद के न कि किसी अन्य प्रकार के भेदके, बीजों का आरंभ से ही परमार्थ सत् में ठिकाना

माने विना नहीं रह सकते। जिस का फल यह होगा, कि 'परमार्थ सत्' एक सजातीय एकता के रूप में प्रकट न होकर आरंभ से अन्त तक अनेकता की योग्यता से युक्त एकता के रूप में भासेगा। **अतः अनेकता परमार्थ सत् का एक अनिवार्य्य रूप है।**

अद्वैतवादियों ने इस प्रश्न का समाधान करने के लिए उन विभिन्न पदार्थों की अनेकता से ही इनकार कर दिया है, जो वास्तव में वैसे ही हैं, जैसे प्रतीत होते हैं। उन का कहना है। 'सत्' वास्तव में अनन्त होने के कारण अपने प्रत्येक प्राकट्य में 'पूर्ण' रूप में उपस्थित है, और उनमें जाते हुए वह अपनी पूर्णता के स्वभाव को नहीं छोड़ता है। अत: प्रत्येक प्रतीत होने वाला 'तत्त्व' जो अनुभव में आता है, पृथक् रहता हुआ एक आंशिक इकाई नहीं जैसा कि वह प्रतीत होता है, और न ही संपूर्ण का एक रूप है, [यदि इसका यह भाव समझा जाए, कि संपूर्ण का एक अंश जिस दृष्टि से सत् है, उस दृष्टि से दूसरा नहीं है] यह स्वयं संपूर्ण है, जो प्रतीत होने वाले प्रत्येक पदार्थ में पूर्णतया मौजूद है।

इसका अर्थ यह है, कि दो पृथक् प्रतीत होने वाले पदार्थों में जो भेद भासता है, वह भ्रम है। प्रत्येक पदार्थ संपूर्ण है। अत: पदार्थ (तत्व) पृथक् पृथक् नहीं है, वरन् एक प्रवाह हैं, वास्तव में वह वही अर्थात् 'संपूर्ण' है केवल भिन्न भिन्न दृष्टिकोणों से देखा जा रहा है। अनुभूयमान संसार के अनेकत्व की भ्रांत प्रतीति का कारण उचित रीति से वह दृष्टिकोण माना जाता है, जिससे हम उसको देखते हैं। हमारा अपना विचार सीमित, सान्त एवं आंशिक है, और तत्त्व के संबन्ध में जो दृष्टि देखने वाले की होती है, उस पर उसकी छाप होती है। संपूर्ण, अपनी यथार्थ अवस्था में केवल उस मन

को जो सान्त नहीं वरन् अनन्त है भास सकता है, और उन समस्त भेदों को अन्तर्भुक्त कर लेगा, जो आंशिक दर्शन में अव्यवस्था पैदा कर रहे हैं। संपूर्ण संपूर्ण को ही संपूर्ण रूप में भास सकता है। किन्तु जो संपूर्ण नहीं है, और संपूर्ण का अंश है, ऐसा अंश कि जो अपने विचार में पृथक् टिका है और जिससे बौद्धिक रचनायें दूर तक विस्तृत है, उसको यह अवश्य ही सान्त और सीमित भासित होगा और उसमें देखने वाले के दृष्टिकोण की आंशिकता का संसर्ग भी होगा। चूंकि सान्त मन संपूर्ण (एक) को अनेक देखता है, और स्वयं समष्टि चेतना से केवल आकार में पृथक् हो रहा है, और यथार्थ का जो रूप वह देखता है, वह यथार्थ नहीं होता, अतः वह यथार्थ का दर्शन कराने में असफल रह जाता है। अतः यह भ्रान्त विचार है और दर्शनशास्त्र का यह काम है, वे बिखरे हुए टुकड़ों को, उनके मूलगत संबन्धों को, जो एक को दूसरे के साथ और अंश को संपूर्ण के साथ जोड़ते हैं, दिखाकर जोड़ दे, जो सामान्यबुद्धि को अप्रतिफलित दृश्य प्रतीत होते हैं।

आओ, हम इस तर्क को इस के प्रतीयमान अर्थ में ही लें। ऐसा प्रतीत होता है, कि यथार्थ के संबन्ध में हमारा विचार अवश्य ही भ्रान्त है, क्योंकि यह स्वयं यथार्थ के संपूर्ण रूप का विचार नहीं, वरन् आंशिक और सान्त पदार्थों के विषय में है। यह परिणाम किस सीमा तक अद्वैतवाद का, जो स्वयं कदाचित् आंशिक और सान्त विचार की उपज है, समर्थन कर सकता है ? यह ऐसा प्रश्न है, जिस पर हम यहां विचार नहीं करते। इसकी विवेचना सत्य के coherence सम्बन्धवाद की आलोचना करते हुए बर्टरेण्ड रस्सल प्रभृति लेखकों ने की है, जिस वाद पर यदि तर्कप्रहार किया जाए, तो स्वयं असत्य सिद्ध जाता है।

इस बात को यहां छोड़कर हम अभ्युपगम को लेकर चलते हैं कि यथार्थ को अनेक समझना-रूपी सामान्य ज्ञान भ्रम है। परन्तु यथार्थताविषयक अद्वैतवाद सिद्धान्त के अनुसार इस भ्रम और भ्रम से उत्पन्न होने वाले आंशिकदर्शन का समन्वय (व्याख्यान) कैसे किया जाएगा ? यह ठीक है कि यथार्थ पर अनेकत्व पैदा करने का उत्तरदायित्व नहीं है, किन्तु भ्रम उत्पन्न करने के लिए यह अपने इस उत्तरदायित्व से जी चुराता है।

हम यथार्थ (तत्त्व-सत्) को नाना और अनेक मानते हैं, इस से हम इनकार नहीं करते किन्तु इस विचार्यमाण (विवादास्पद) विचार के अनुसार हम भूल का शिकार होजाते हैं। यह भूल या तो वास्तविक है और केवल इतने अर्थ में प्रतीतिमात्र है जितने में प्रतीति पूर्ण यथार्थ नहीं भासती । यदि यह प्रतीतिमात्र है तो यथार्थ को नाना समझना वास्तविक नहीं वरन् प्रतीयमान भूल है, और यथार्थ नाना है। यदि यह भूल वास्तविक है, तो फिर कहां से पैदा होती है। निर्विशेष Absolute केवल एकाकार (एकतापन्न) संपूर्ण ही नहीं वरन् यह चेतनारचना भी है, इस रूप के अनुसार इसे 'ज्ञान' कहते हैं, और इसे स्वसंवेद्य ज्ञान कहकर पुकारते हैं। अतः इसको एक विशेषता समस्त ज्ञान की, जो ज्ञान है विशेषता है, अर्थात् यथार्थता, निर्विशेष Absolute में ही पूर्ण सत्य और पूर्ण यथार्थ, एक और अभिन्न हैं।

यदि इस प्रतीयमान अनेकत्व का अद्वैतरूप समाधान स्वीकार भी करना हो, तब यह निश्चय होता है कि भूल (भ्रम) भी यथार्थ है। तब भ्रम ब्रह्म का भाग है। निस्सन्देह इस विचार पर कोई

तार्किक आक्षेप नहीं किया जा सकता कि यथार्थ का एकत्व सब भ्रम है, किन्तु जहां तक मेरा ज्ञान है, कोई दार्शनिक इस विचार को स्वीकार नहीं करता। किन्तु यथार्थ यदि सर्वथा भ्रम नहीं है, तो यह भ्रम से भिन्न अन्य पदार्थ है क्योंकि जैसा कि हम कह चुके हैं कि भ्रम जो यथार्थ एक को नाना दिखा रहा है, वास्तविक है यथार्थ है और अतएव यथार्थ का अंश है। जो भी हो, भूल (भ्रम) का मूल यथार्थ में ही कहीं है, जो सजातीय एक होने के स्थान में सर्वत्र भूल (भ्रम) के विकास=वृद्धि की सामर्थ्य से वास्तव में प्रतिबद्ध है। यह भूल abstract काल्पनिक नहीं जिस से कोई भ्रान्ति हो सके, वरन् यह वह विशेष प्रकार की भूल है, जिसका फल यह होता है कि हम यथार्थ के संबन्ध में ऐसी धारणा बनाते हैं, जो हमें काल्पनिक abstract अनेकत्व प्रतीत नहीं वरन् होता ठीक इसी प्रकार का प्रतीत होता हैं। किन्तु पूर्ण एकत्वरूप यथार्थ में से अनेकत्व की उत्पत्ति की अपेक्षा पूर्ण सत्य रूप में से भूल (भ्रम) की उत्पत्ति का समाधान करना अधिक सुगम और संभव नहीं है।

सार यह है कि 'यथार्थ' जो वास्तव में निर्विशेष एकत्व है उस अनेकत्व का जो विशेष धर्म्मों से विशेषित है आधार नहीं बनाया जा सकता है, चाहे हम इन विशेषताओं को वास्तविक भेद या वास्तविक भ्रमके, जो इन काल्पनिक भेदप्रतीतियों को पैदा करते हैं, रूप में मानें या न मानें। अतः यथार्थता एकत्व नहीं है, या तो अनेकत्व से विशिष्ट है या मूल से ही भूल (भ्रम) है। जैसा कि हम संबन्धों, अंशों, और अंशियों पर आश्रित तर्क का, जिस पर यथार्थ का अनेकत्वप्रतीतिविषयक आक्षेप आश्रित है,

खण्डन कर चुके हैं, हम इस संभावना को भी रद्द करते हैं कि कि भूल (भ्रम) यथार्थ (ब्रह्म) का कोई मौलिक=वास्तविक धर्म है। अतः हम दूसरे पक्ष को स्वीकार करते हैं, जो यह कहता कि 'यथार्थता वास्तव में अनेकत्व है'।*

* C. E. M. Joad's "Matter, Life and Value" pp. 57. 58, 59.

एकादश अध्याय

अद्वैतसम्बन्धी कुछ वैदिक वाक्य

यह विचार अत्यन्त प्रचलित है कि वेद और वेदान्त अद्वैत-वाद या सर्वदेववाद की शिक्षा देते हैं। समस्त आस्तिक चाहे किसी भी संप्रदाय के मानने वाले हों ईश्वर की यथार्थता में विश्वास रखते हैं। किन्तु सर्वदेववाद तो कुछ सर्वथा भिन्न सी चीज़ है। परमेश्वर को सर्वव्यापक कहने के स्थान में यह सिद्धान्त कहता है कि परमेश्वर सब कुछ है, और सब कुछ परमेश्वर है। कैसे? इसका समाधान भिन्न भिन्न विचारकों ने भिन्न भिन्न प्रकार से दिया है।

जब से शङ्कराचार्य्य जी ने व्यासजी के वेदान्तसूत्रों पर अपना प्रसिद्ध भाष्य लिखा है, तब से लोग वेदान्त और अद्वैत-वाद को एक मानते हैं। उनका यह प्रसिद्ध वचन है—**एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म,** एक ब्रह्म ही सत् है, उसके अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं है। मानवीय अनुभव और मानवीय ज्ञान की विविध शाखाओं के साथ इसका समन्वय करने के लिए नाना प्रकार के भिन्न भाव रखते हुए विभिन्न संप्रदायों की सृष्टि हुई है। परन्तु उनमें अनुस्यूत विचार एक ही है कि वास्तवक एक तत्त्व ब्रह्म है और उससे भिन्न सब मिथ्या है। हमने पूर्व अध्यायों में इसके विरोध में एक दूसरे बड़े भाष्यकार रामानुजाचार्य्य के विचारों का उल्लेख किया है। निस्सन्देह रामानुजाचार्य्य जी

शङ्कराचार्य्य जी के अत्यन्त घोर विरोधी है किन्तु यह कहना कठिन है कि वे शङ्कर का सर्वथा खण्डन कर पाए है। शङ्कर के पश्चात् उपजने वाले समस्त संप्रदायों में शङ्कर का मुख्य सिद्धान्त–'अद्वैत-वाद, सभी में अनुस्यूत है।*

किन्तु उससे यह न समझ लिया जाए कि वेदान्त या वैदिक वाक्यों की शङ्करकृत व्याख्या सर्वथा शुद्ध है। यह विश्वास सप्रमाण है कि वेद में ब्रह्म से अतिरिक्त और भी यथार्थ सत्पदार्थ माने गए हैं। संक्षेप में, पदार्थों की अनेकता की जो व्याख्या हमने पूर्व पृष्ठों में की है वह वेद और वेदान्त के आशय के विरुद्ध नहीं है। ऋग्वेद का प्रथम मन्त्र ही अनेकता का प्रतिपादन करता है उसमें विशुद्ध या विशिष्ट अद्वैतवाद के समर्थन के लिए एक भी शब्द नहीं है । देखिए—"मैं (अग्निम) महान गतिदाता (पुरोहित) सर्वमुख्य (यज्ञस्य देवम्) समस्त चेष्टाओं के स्वामी (ऋत्विजम्) ऋतुओं के उत्पादक (होता) महान् याज्ञिक त्यागी और (रत्नधातमम्) श्रेष्ठपदार्थों के सर्वश्रेष्ठधारक की स्तुति करता हूं।+

---

* किन्तु मध्वाचार्य्य सर्वथा द्वैतवादी हैं (अनुवादक)।

+ अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।

होतारं रत्नधातमम्॥ ऋ० १।१।१

अग्निम्–महान् गतिदाता (अंचु गतिपूजनयोः, गति अर्थ)।

ईळे—मैं स्तुति करता हूं।

पुरोहितम्—पुरः=सामने आगे, हितम्=धरा (धा–धातु का क्तान्तरूप है। जो सब के आगे धरा हो अर्थात् सर्वमुख्य।

संसार को भ्रम मानना वेद के आशय के सर्वथा विरुद्ध है। किसी भी मन्त्र या प्रार्थनासंबन्धी सूक्त को लीजिए आप इसे वास्तविक और ओजस्वी पाएंगे। भक्त अपनी सत्ता को, अपने भगवान् की सत्ता को तथा उस संसार की सत्ता को जहां वह रख दिया गया है, पूरी तरह अनुभव करता है। निम्नलिखित मन्त्र नमूना मात्र है ये अत्यन्त स्पष्ट है—"मैं स्वयं ध्रुव=गतिरहत होता हुआ शरीरों के द्वारा गति बढ़ाता हुआ और जीवों=आत्माओं को प्रेरणा देता हुआ व्यापक हूं। मरणधर्म्मा का अमर आत्मा प्रकृति के सहयोग से कार्य्य करता है। मरणधर्म्मा शरीर के कारण यह शरीरी बनता है।*

यज्ञस्य देवम्—समस्त चेष्टाओं का स्वामी। वैदिक परिभाषा में समस्त शुभ-क्रियाओं को यज्ञ कहते है]

ऋत्विजम्—[ऋतुओं की क्रमिक संगति करने वाला] ऋतुओं का उत्पादक।

होतारम्—सब से बड़ा याज्ञिक=त्यागी [हु दानादनयोः, दान अर्थ,दान का अर्थ त्याग है।]

रत्नधातमम्—रत्नों अथवा श्रेष्ठ पदार्थों का सर्वश्रेष्ठ-धारक [रत्न का अर्थ श्रेष्ठ पदार्थ भी होता है।]

* अनच्छये तुरगातु जीवमेजद्-
ध्रुवं मध्य आ पस्त्यानाम्।
जीवो मृतस्य चरति स्वधाभि-
रमर्त्यो मर्त्येन सयोनिः॥ ऋ० १।१६४।३०
शये—मैं व्यापक हूं।

ऋग्वेद के दशममण्डल के १२६ वें सूक्त की अनेक दृष्टि-कोणों से व्याख्याएं की गई हैं। हम इस पर कुछ प्रकाश डालना आवश्यक समझते हैं—

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं
नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुहकस्य-
शर्म्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम् ॥१॥

न असत् आसीत्—असत् न था।
नो सत् आसीत्—न ही सत् था।
तदानीं न आसीत् रजः—तब लोक भी नहीं थे।
नो व्योमा पर यत्—न ही आकाशा था, जो परे है।

ध्रुवम्—ध्रुव, गतिरहित, धीर, स्वय गति न करने वाला।
पस्त्यानां मध्ये—शरीरों या प्राकृतिक घरों के द्वारा।
तुरगातु अनत्—गति देता हुआ।
जीवम् एजत्—आत्माओं को प्रेरणा करता हुआ।
मृतस्य अमर्त्यो जीवः—मरणधर्म्मा का अमर आत्मा।
स्वधाभिः चरति—प्रकृति या प्राकृतिक पदार्थों के साथ गति करना है।
मर्त्येन सयोनिः—मरणधर्म्मा शरीर के कारण शरीरी बनता है।

किमावरीवः कुहकस्य शर्म्मन्—क्या वस्तु किससे ढकी थी ?

किमासीद्गहनं गभीरम्—वह गंभीर गहन क्या था ?

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि
न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः ।
आनीदवातं स्वधया तदेकं
तस्माद्धान्यन्न परः किंचनास ॥२॥

न मृत्युः आसीत्—न मौत थी ।

अमृतं न तर्हि—न ही तब अमरता थी ।

न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः—न ही रात्री के द्वारा दिन की पहिचान थी ।

आनीत् अवातं स्वधया तदेकम्—वह एक वायु के विना स्वधा के साथ श्वास लेता था ।

तस्माद् ह अन्यत् न परः किंचन आस—उससे परे उसके अतिरिक्त कोई नहीं था ।

तम आसात्तमसा गूढमग्रे-
ऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्
तपसस्तन्महिनाऽजायतैकम् ॥३॥

अग्रे—सृष्टि से पहले ।

तमसा गूढं तम आसीत्—अन्धकार से अधिक गूढ अन्धकार था, अर्थात् अव्यवस्था थी ।

सर्वम् इदम् अप्रकेतं सलिलम् आः—यह सब कुछ अविवेचनीय तरल पदार्थ सा था।

यत तुच्छ्येन आभु अपिहितं आसीत्—जो इस तुच्छ से आच्छादित था।

तत् एकं तपसः महिना अजायत—बड़े तप (कार्य्य शक्ति-द्वारा) एक उत्पन्न हुआ, प्रकट हुआ।

कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि
मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन्
हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥४॥

यत् रेतः प्रथमम् आसीत्—जो बीज आरंभ में था।

कामः तद् अग्रे समवर्त्तत अधिमनसः—वह पहले मन में कामना=संकल्परूप में था।

कवयो मनीषा हृदि असति सतो बन्धुं निरविन्दन्—मेधावी ज्ञानियों ने अपने मन में सत् का सम्बन्ध जाना।

तिरश्चीनो रश्मिरेषामधः
स्विदासीदुपरि स्विदासीत्।
रेतोधा आसन्महिमान आसन्।
स्वधा अवस्तात्प्रयतिः परस्तात् ॥५॥

तिरश्चीनो रश्मिः विततः—तब एक वक्र किरण प्रकट हुई

एषाम् अधः स्वित् आसीत्—उनके नीचे क्या था?

उपरि स्वित् आसीत्—ऊपर क्या था ?

रेतोधाः आसन्—बीज धारण करने वाले थे।

महिमानः आसन्—महान् थे।

अवस्तात् स्वधा—नीचे प्रकृति।

परस्तात् प्रयतिः—ऊपर इच्छा संकल्पशक्ति।

को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्
कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग् देवा अस्य विसर्जनेना-
था को वेद यत आबभूव ॥६॥

को अद्धा वेद—कौन ठीक ठीक जानता है ?

कः इह प्रवोचत्—कौन इस विषय में ठीक ठीक कह सकता है ?

कुतः आजाता कुतः इयं विसृष्टिः—कहां और कैसे सह सृष्टि उत्पन्न हुई ?

अस्य विसर्जनेन अर्वाग् देवाः—सचमुच सृष्टि से पूर्व-प्रकाशमय पदार्थ थे।

अथ को वेद यतः आबभूव—और कौन जानता है कि यह कहां से हुई ?

इयं सृष्टिर्यत आबभूव
यदि वा दधे यदि वा न।

यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्

सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥७॥

इयं विसृष्टिः यतः आबभूव-जहां से यह सृष्टि उत्पन्न हुई।

यदि वा दधे यदि वा न—चाहे उसने इसे धारण किया या न किया।

यो अस्य अध्यक्षः परमे व्योमन्—इस महान् आकाश में जो इसका अध्यक्ष है।

अङ्ग सः वेद यदि वा न वेद—प्यारे ? वह भी ठीक ठीक जानता है या नहीं।

यह संपूर्ण सूक्त रहस्य सा है। इसमें सृष्टि-उत्पत्ति से पूर्व की अवस्था का, विषय के अनुरूप, अत्यन्त उचित शब्दों में वर्णन है। जो प्रकाश सृष्टि के साथ था; सृष्टि-उत्पत्ति के पश्चात् हुआ और जिसकी सहायता से हम पदार्थों को समझते और वर्णन करते है, अवश्यमेव उस समय नहीं था, अतः उस प्रकाश के अभाव में निषेधात्मक वर्णन के अतिरिक्त उस समय के पदार्थों का ठीक ठीक निरूपण संभव न था। यह हम नहीं कह सकते कि उस समय कुछ न था। अभाव में से भाव कैसे उत्पन्न हो सकता है*। शङ्कर भी ब्रह्म की सत्ता मानते हैं। तब मन्त्र के इस खण्ड—**'नासदासीन्नो सदासीत्'** का क्या आशय है ?

---

* कथमसतः सज्जायेत (छा-उ)। असत् से सत् कैसे पैदा हो सकता है।

नासतोऽदृष्टत्वात् (वेदान्त द. २।२।२६)

असत् से सत् उत्पन्न होता नहीं देखा जाता।

'सत्' की असत्ता=अभाव हमारी समझ में आ सकता है किन्तु सत् और असत् दोनों का अभाव कैसे ? सच यह है कि यहां 'सत्' और 'असत्' एक विशेष अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। मन्त्र का आरंभ इस प्रकार होता है—"आरंभ में 'असत्' नहीं था"= **न असत् आसीत्**। क्यों ? यदि सर्वथा अभाव होता अर्थात् कोई भी सत् पदार्थ नहीं होता, तो फिर किसी सत्ता का पैदा होना सर्वथा असंभव होता। यदि मिट्टी नहीं है तो घड़ा भी नहीं हो सकता। यदि सुवर्ण नहीं है तो कंकण भी नहीं हो सकते। जादू में ही अभाव से घड़े की उत्पत्ति मानी जा सकती है। कोई भी वैज्ञानिक इस बेहूदगी को नहीं मान सकता। मन्त्र का दूसरा वाक्य है—**नोसदासीत्**='न ही **सत्** था'। यहां सत् का अर्थ है सृष्टि या सृष्ट पदार्थ। सचमुच ही सृष्ट पदार्थ तो उस समय थे ही नहीं। अन्यथा सृष्टि की आवश्यकता न होती। इस मन्त्र में विधि निषेध—स्वीकार इनकार, किन्हीं वस्तुओं-का स्वीकार और किन्हीं का इनकार-दोनों हैं। जिनका इनकार किया गया है वे ये हैं—

१. असत्=अभाव।
२. सत्=सृष्ट पदार्थ।
३. रजः=लोक।
४. व्योम=आकाश।
५. मृत्यु=मौत।
६. अमृत=जीवन।
७. रात्र्या अह्नः प्रकेतः=रात्रि दिन का भेद।

क्या कोई पदार्थ तब था भी ? हां। क्या ?

(१) अवातम् एकम्=एक निश्चेष्ट सत् ।

(२) स्वधया=प्रकृति के साथ ।

(३) तमः=अन्धकार या ज्ञानाभाव ।

(४) अप्रकेतं सलिलम्=अविवेचनीय तरल पदार्थ ।

(५) तुच्छ्येन अपिहितम् आभु=किसी अप्रतर्क्य पदार्थ से आच्छादित महान् अवकाश ।

(६) काम=इच्छा=संकल्प ।

[७] रेतः=बीज ।

[८] रेतोधाः=बीजधारक ।

[९] महिमानः=महान पदार्थ ।

[१०] प्रयतिः=प्रयत्नशक्ति ।

हमें अनुभव होता है कि मूल वेदमन्त्र का अनुवाद ठीक ठीक नहीं हो सका है। किसी भाषा के किसी शब्द का पूरा पूरा भाव दूसरी भाषा में समझाना कोई आसान कार्य्य नहीं है। किन्तु जब हम अप्रतर्क्य और अविवेचनीय पदार्थों का वर्णन करने लगते हैं, तो यह कठिनता और भी बढ़ जाती है। हमारी असमर्थता अधिक क्षमायोग्य हो जाती है जब हम देखते हैं कि स्वयं पवित्र मन्त्र ने ही उस अवस्था का पूर्ण यथार्थ वर्णन करने में अत्यन्त असन्दिग्ध शब्दों में अपनी असमर्थता प्रकट की है। शब्द तो सृष्टि के बाद की वस्तु हैं। सृष्टि-उत्पत्ति से पूर्व-की अवस्था का वर्णन करने का तो वह अत्यन्त अयोग्य साधन हैं। अतएव उचित रीति से वर्णन करने की विशुद्ध शैली के विषय में मन्त्र भी अनिश्चित सा है।

किन्तु एक बात स्पष्ट है मन्त्रों में दो बातों का स्पष्ट निश्चय है-प्रथम सृष्टि-उत्पत्ति से पूर्व कुछ था। द्वितीय-एक से अधिक

पदार्थ थे, अर्थात् अनेकता, इस अध्याय का मुख्य प्रतिपाद्य।

निम्नलिखित बातें ध्यान में धरने योग्य हैं—

(१) **तपसा महिना अजायत**—यह सृष्टि महान् तप=पुरुषार्थ का फल है। यह यादृच्छिक या आकस्मिक नहीं है।

(२) **स्वधा अवस्तात्, प्रयतिः परस्तात्**—प्रकृति नीचे और संकल्प शक्ति ऊपर। इस से प्रकृति की अपेक्षा कर्त्ता की श्रेष्ठता सिद्ध होती है, प्रकृति से वह पदार्थों की रचना करता है। जिससे कुम्हार बर्तन बनाता है उस मिट्टी की अपेक्षा कुम्हार अवश्य श्रेष्ठ है। मिट्टी जड़ है, अचेतन है। जब बर्त्तन नहीं भी बना, तब भी कुम्हार को बर्त्तन का ज्ञान है, क्योंकि बर्त्तन बनाने से पूर्व वह सारे पात्र का चित्र अपने चित्त में खींच लेता है।

(३) **रेतोधाः आसन्**—बीजधारक थे। इस शब्द की कुछ व्याख्या करनी उचित है। भाष्यकार सायण इस की यों व्याख्या करता है—

रेतसो बीजभूतस्य कर्म्मणो विधातारो भोक्तारश्च आसन्।

बीजधारणारूपकर्म्म के करने वाले और भोगने वाले जीव थे।

आशाय यह है कि सृष्टि ब्रह्म के लिए नहीं है, वह तो पूर्ण और अकाम है। मेरे विचार में सृष्टि उत्पन्न करने में मुख्य, नहीं नहीं एकमात्र प्रयोजन परमेश्वर का यह है कि जीवों को ऐसा क्षेत्र मिल जाए, जहां वे अपने कर्म्म करने की शक्ति का स्वतन्त्रता-पूर्वक विकास कर सकें और आनन्द पा सकें। संस्कृत में प्रसिद्ध कहावत है—कि यह संसार कर्म्मक्षेत्र और भोगक्षेत्र है *। 'रेतोधाः'

---

* योगदर्शन के दूसरे अध्याय में कहा है कि भोगापवर्गार्थं

बहुवचन का प्रयोग है। अर्थात् इस सृष्टि की उत्पत्ति के प्रयोजकीभूत अनेक आत्मा हैं। यदि जीवात्मा न होते, और पूर्ववर्णित पूर्णताओं से विशिष्ट एक ही ब्रह्म ही होता, तो इस पेचीदा सृष्टि के उत्पन्न होने का सर्वथा कोई भी कारण नहीं है। 'महिमानः' का अर्थ, मेरे विचार में, वे महान् आत्मा है जो इस संसारचक्र से मुक्त हो चुके हैं।

आइए, अब हम वे विशिष्ट स्थल उद्धृत करते हैं, जिन्हें प्रायः अतद्वैवाद का समर्थक माना जाता है—

(१) स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेद् यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति ॥

(बृहदारण्यकोपनिषत् २ । १ । २०)

'जैसे मकड़ी से जाले की तन्तुएं निकलती हैं, जैसे अग्नि से छोटी छोटी चिनगारियां चटकती हैं, ऐसे ही इस आत्मा से सभी प्राण (जीवन-शक्तियां) सभी लोक, सब देव (प्रकाशमान पदार्थ) और सब भूत (सृष्ट पदार्थ) निकलते हैं।"

यह सन्दर्भ परमात्मा के सर्वग्राही और सर्वाभिभावी सामर्थ्य का प्रतिपादन करता है किन्तु मकड़ी या अग्नि के दृष्टान्तमात्र से इस के मत्थे अद्वैतवाद मढ़ना, स्पष्ट ही क्लिष्ट कल्पना है। दृष्टान्त साध्य के किसी एक अंश पर प्रकाश डाला करते हैं, और

दृश्यम्—यह दृश्य=संसार भोग और अपवर्ग (मोक्ष) के लिए है तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा (यो० द०) यह संसार जीव के लिए हैं (अनुवादक)

उन्हें इतना नहीं खींचना चाहिए। जो इस दृष्टान्त की शाब्दिक योजना पर बल देते हैं, उनसे कहना चाहिए कि 'मकड़ी' का अर्थ है आत्मा+शरीर, जिस शरीर में से आत्मा तन्तु बाहर निकालता है। इसी प्रकार परमेश्वर के भी अपने अन्दर सदा रहने वाली प्रकृति है जिससे वह संसार पैदा करता है। चिनगारियां निकालने के लिए अग्नि को अपने अतिरिक्त अन्य अनेक वस्तुओं की आवश्यकता होती है। यदि अग्नि ही केवल सत् पदार्थ होता और उसके अतिरिक्त दूसरा कोई पदार्थ न होता तो अग्नि से किसी भी चिनगारी का निकलना किसी प्रकार भी संभव न होता।

(२) यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं जिघ्रति तदितर इतरं पश्यति तदितर इतरꣳ शृणोति तदितर इतरमभिवदति तदितर इतरं मनुते तदितर इतरं विजानाति यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं जिघ्रेत्, तत् केन कं पश्येत्, तत् केन कꣳ शृणुयात्, तत् केन कमभिवदेत्, तत् केन कं मन्वीत, तत् केन कं विजानीयात्। येनेदꣳसर्वं विजनाति तं केन विजानीयात्। विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति।

(बृहदारण्यकोपनिषत् २। ४। १४ मैत्रेयी-याज्ञवल्क्य संवाद)

जहां कुछ द्वैत सा होता है, वहां दूसरा दूसरे को सूंघता है, दूसरा दूसरे को देखता है, दूसरा दूसरे को सुनता है, दूसरा दूसरे से बोलता है, दूसरा दूसरे का विचार करता है, दूसरा दूसरे को जानता है। किन्तु जहां सभी इसका आत्मा=अपना ही है, तब वहां कौन किसको किससे सूंघे, कौन किस को किससे देखे, कौन किस को किससे सुने, कौन किसको किससे बोले, कौन किस का किससे मनन करे, कौन किस को किस से जाने? जिसके द्वारा

इस सब को देखता है, उसको किसके द्वारा जाने ? अरे ! जानने वाले (विज्ञाता) को किसके द्वारा जाने ?

(बृहदारण्यकोपनिषत् २ । ४ । १४)

यह उद्धरण मैत्रेयी और याज्ञवल्क्य के संवाद से लिया गया है। अन्तिम वचन सोर सन्दर्भ की कुंजी है। यदि आप इस प्रकरण के भाव को समझने का यत्न करेंगे, तो आपको ज्ञात होगा कि अनेकता=नानत्व का खण्डन करना इस का तात्पर्य कभी भी नहीं है। यह तो केवल इतना बताता है कि देखना, (दर्शन) सुनना, (श्रवण) सूंघना (घ्राण), बोलना (वदन) और अन्य चेष्टाओं के विषय बाहर हैं। मनुष्य आत्मा को जानने के लिए नाक, कान, मन आदि का प्रयोग नहीं कर सकता। आत्मा अन्दर रहता है और इन नाक कान आदि का प्रेरक=गतिदाता है। परमेश्वर के साथ निकट संबन्ध और समानता दिखाना इस का मुख्य उद्देश्य है। आत्माओं या अन्य पदार्थों के साथ परमात्मा का अभेद इसका तात्पर्य्य नहीं है।

(३) यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं
गच्छन्ति नामरूपं विहाय।
तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः
परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥

स यो ह वै तत् परं ब्रह्म वेद, ब्रह्मैव भवति* नास्याब्रह्मवित्कुले भवति, तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तो ऽमृतो भवति। (मुण्डको. ३।२।८,९)

---

* एव=इव like (Vide Apt's Sans. Dictionary, especially the *note*).

'जैसे बहती हुई नदियां नाम रूप छोड़कर समुद्र में विलीन हो जाती हैं, ऐसे ही नामरूप से विमुक्त हुआ विद्वान् परात्पर दिव्य पुरुष को प्राप्त हो जाता है।

जो उस परब्रह्म को जान लेता है, वह ब्रह्मसमान हो जाता है। उसके वंश में कोई अब्रह्मवित्=ब्रह्म को न जानने वाला नहीं पैदा होता। वह शोक से तर जाता है, पाप को पार कर जाता है, हृदय की गांठों से छुटकर वह मुक्त हो जाता है' (मुण्डकोप. ३।२। ८,९)

इस सन्दर्भ में सृष्टि से पूर्व का वर्णन सर्वथा नहीं है। यह तो मुक्त आत्मा की अवस्था का वर्णन करता हैं। शरीरस्थ आत्मा का तो नाम भी है और रूप भी। रूप तो शरीर का धर्म्म (गुण) है। और नाम, यह भी तो मनमाना होता है और भेद के लिए ही दूसरे धरते हैं। यदि यह संसार न होता, दूसरे लोग, जिन्हें दूसरों से हमें विभिन्न जानने की आवश्यकता होती है न होते, तो नाम भी न होते। जब ब्रह्मसाक्षात् कर लेने के कारण आत्मा मुक्त हो जाता है, इसे नाम रूप की आवश्यकता नहीं रहती और वह परमात्मा के परमानन्द में निमग्न हो जाता है। जो नदियां सागर में गिरती है, अवश्य उनका नाम रूप नष्ट हो जाता है किन्तु जल के बिन्दुओं की सत्ता जिनसे नदियां बनती हैं अबाधरूप से बनी रहती हैं। उनकी सत्ता अवश्य बनी रहती है। हां, समुद्र के साथ उनकी एकता हो जाती है। मुक्त आत्मा ब्रह्म नहीं बन जाता, इसमें दुःखाभाव और पापाभाव की दृष्टि से ब्रह्मपन आ जाता है। वैदिक साहित्य में अनेक स्थलों में मुक्त आत्माओं के शाश्वत आनन्द भोगने का वर्णन तो है किन्तु आत्माओं के स्वरूपनाश अर्थात् सृष्टिकर्त्ता ब्रह्म होने का वर्णन कहीं नहीं मिलता है। यदि

ब्रह्म है और उपनिषदें कहती हैं कि वह है, और कि उसमें समस्त बुद्धिगम्य भले गुण भी हैं तो जैसे यह कहना व्यर्थ है कि परमेश्वर शरीर धारण करके सान्त हो जाता है चाहे कोई भी हेतु इसका हो, वैसे ही यह कहना पोच है कि एक देहधारी=शरीरस्थ आत्मा ब्रह्म हो जाता है। यह कहने सुनने में बड़ा प्रिया लगता है कि मैं ब्रह्म बन सकता हूं। परन्तु यदि परमात्मा के संबन्ध में कोई निश्चित धारणा या सिद्धान्त है, तो फिर उसका ठीक ठीक भाव समझना (ऐसी अवस्था में) कठिन हो जाता है।

अब हम वेदान्त के प्रसिद्ध महावाक्यों को, जिनके कारण वेदान्त की इतनी ख्याति है, लेते हैं। उनमें से एक **तत्त्वमसि** (तू वह आत्मा है) है और दूसरा **अहं ब्रह्मास्मि**=(मैं ब्रह्म हूं) है। ये दो महावाक्य भारतीय औपनिषद साहित्य का सर्वोत्कृष्ट सार हैं—अर्थात् 'तू ब्रह्म है। और 'मैं ब्रह्म हूं।' इन महावाक्यों की प्रसिद्धि और सर्वप्रियता के इतिहास का पता लगाना कठिन है। कम से कम बाद का वैदान्तिक साहित्य इनसे ओतप्रोत है। वेदान्त के प्रत्येक आचार्य्य को आप समय कुसमय इसका आम्रेडन करते पाएंगे।

किन्तु हमारे पाठकों को यह जानकर आश्चर्य होगा, कि न तो प्रामाणिक पुरातन दस उपनिषदों में और न ही वेदान्त सूत्रों में इनकी इतनी चर्चा है। **तत्त्वमसि** छान्दोग्योपनिषत् के केवल उन्हीं स्थलों में आता है जिनका द्वितीय अध्याय में हम निर्देश कर चुके हैं और इन स्थलों के विचारपूर्वक मनन से निश्चित होता है कि **तत्त्वमसि** का अर्थ 'तू ब्रह्म है' ऐसा नहीं है। **अहं ब्रह्मास्मि** तो और भी कम प्रयुक्त हुआ है। यह बृहदारण्यकोपनिषत् में

एक दो बार प्रयुक्त हुआ है। यथा—

(४) ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् तदात्मानमेवावेदाहं ब्रह्मास्मीति (बृहदारण्यको० १।४।६)

"परमेश्वर आरंभ में था, उसने अपने स्वरूप को जाना कि 'अहं ब्रह्मास्मि'=मैं ब्रह्म हूं।" (बृहदारण्य को० १।४।६)

इससे स्पष्ट है कि यदि परमेश्वर कहे कि मैं ब्रह्म हूं; तो इसका यह अर्थ नहीं कि जीव ब्रह्म है।

(५ मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नास्ति किंचन।

मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥

(बृहदारण्यको० ४।४।१६)

"यह बात मन से समझनी चाहिए कि यहां नाना=अनेक नहीं। जो नाना देखता है वह मौत के बाद मौत प्राप्त करता है।" (बृहदारण्यको० ४।४।१६)

यह प्रकरण तो अद्वैत=द्वैताभाव के विना अच्छी तरह समझा जा सकता है। इस जगत् को हम सं+सार=संसार* कहते हैं, क्योंकि इसमें सम्=एक सा पूर्ण नियम=व्यवस्था है, और इस में समानता=एकता है। इसका यह भाव नहीं कि इसके अवयव नाना नहीं हैं, किन्तु इस समग्र में एक ही नियम कार्य्य कर रहा है; जैसे एक पशु के शरीर में यद्यपि नाक, कान, आंख आदि नाना अवयव हैं तथापि इसमें कोई एक ऐसी व्यवस्था है जिससे हमें शरीर की एकता का ज्ञान होता है। जिस मनुष्य को इस अनेकता में

---

* सम् इति एकीभावे (निरुक्त) अर्थात् सम् का अर्थ एकता है।[अनुवादक]

=नाना में एकता का अनुभव नहीं होता, संसारविषयक उसका ज्ञान भ्रान्त है और अतएव बार बार जननमरण के चक्र में आता रहता है।

हम स्थानाभाव से और उदाहरण नहीं देते। जिन महाशयों का विचार है कि वेदान्तसूत्रों के कर्त्ता बादरायण मुनि जीव ब्रह्म की एकता=अभेद मानते हैं, उनसे हम द्वितीयाध्याय के तृतीयपाद के १७ से ५३ सूत्रों तक पढ़ने की प्रार्थना करते हैं। इन सूत्रों में बादरायण (व्यास) जी बतलाते हैं कि आत्मा अणु, अजन्मा अनादि और परिच्छिन्न (अव्यापक) है। श्वेताश्वतरोपनिषत् में तो स्पष्ट ही **'ज्ञाज्ञौ द्वावजौ'** (१।९) सर्वज्ञ और अल्पज्ञ दो तत्त्व वर्णन किए गए हैं।

द्वादश अध्याय

कुछ एक लुभावने हेत्वाभास

कहते हैं कि भाषा भावों के व्यक्त और स्पष्ट करने का साधन है। किन्तु बहुधा यह भावों को छिपाने तथा गड़बड़ाने का साधन भी बन जाती है। अत्यन्त भ्रष्ट प्रकार के हत्वाभास भी सुन्दर भाषा के वेश में छिपे रह जाते हैं और किसी की दृष्टि में नहीं आते। हम बहुत बार प्रसिद्ध पत्रों में सुप्रसिद्ध लेखकों के लेखों में ऐसे लेखांश पाते हैं कि जब उनको ध्यान से पढ़ा जाए तो पता लगता है कि उन का तो कोई अर्थ ही नहीं है।*

---

* सुप्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक विलियम जेम्स कहता है—कि 'यदि शब्द उसी भाषा के हों, और व्याकरण की दृष्टि से वाक्य विन्यास भी शुद्ध हो तो बहुधा भले भाव से भी ऐसे वाक्य-उच्चारण किए जाते हैं जिनका सर्वथा कोई अर्थ नहीं होता, और उन पर कोई भी आपत्ति भी नहीं करता। प्रार्थनासभाओं में, राजकीय परिभाषाओं के उन्हीं शब्दसमुदायों के बार बार प्रयोगों में, धनके उद्देश्य से लिखे लेखों में और समाचार पत्रों के संवाददाताओं की मौजबहारों में इनके पर्याप्त उदहरण होते हैं। 'पक्षियो ने वृक्षों की चोटियों को प्रात:कालिक गानों से गुंजा दिया, हवा को तर, ठंडा और मनोहर कर दिया,' यह वाक्य मैं ने जयराम-उद्यान के मल्लों के व्यायामसंबन्धी संवाद में एक बार पढ़ा था, ऐसा मुझे स्मरण है। कदाचित्

इसी प्रकार कई बहुत बड़े विचारक भी असावधानता से अपने अभिमत वादों की पुष्टि में हेत्वाभासों का=अशुद्ध हेतुओं का प्रयोग कर बैठते हैं, चूंकि उन की भाषा बहुत सुन्दर होती है, अत: उनकी आभासता=अशुद्धता का साधारण लोगों को भान नहीं होता। हम नीचे ऐसे कुछ हेतुओं (हेत्वाभासों) का दिग्दर्शन कराते हैं, जो अद्वैतवाद की पुष्टि में दिए गए हैं, किन्तु परीक्षा और विश्लेषण करने पर अशुद्ध सिद्ध होते हैं—

[१]

यदि संसार में अनेक पदार्थ हैं, तो यह अत्यन्त सूक्ष्म=अणु और अत्यन्त महान् दोनों ही होने चाहिएं। अत्यन्त सूक्ष्म तो इस कारण कि कि हम उन को अत्यन्त सूक्ष्म विभागों=अंशों में विभाजित कर सकते हैं, और अत्यन्त महान् इस कारण कि हम प्रत्येक विभाग में अन्य अनन्त विभाग जोड़ सकते हैं। यह कहना कि नाना=अनेक अत्यन्त सूक्ष्म तथा अत्यन्त महान् दो गुणों से यक्त हों, व्यर्थ है और अत एव हमें सर्वथा अस्वीकृत कर देना चाहिए* ।

सान्त जीवों के लिए यह कितने गौरव और गर्व की बात है कि वे **अनन्त कार्य्य कर सकते हैं,** और इन कल्पनाओं के आधार पर अपने अभिमत वाद खड़ा करना और भी अधिक गर्व

किसी संवाददाता ने शीघ्रतावश ऐसा लिखा था और किसी ने इसकी आलोचना भी न की।"

James Psychology, Page 169

* थिल्ली ने History of Philosophy में ज़ेनों का मत उद्धृत किया है (पृ० २६)

की बात है। जैनों तो 'अनन्त' पदार्थों की कल्पना ही नहीं कर सकता, अनन्त कार्य्यों के करने की बात तो दूर रही।

[२]

इन्हीं कारणों से गति और अवकाश की सत्ता भी असंभव है। यदि हम कहें कि समस्त सत्ता अवकाश में है, तो हमें यह अवश्य मानना चाहिए कि यह अवकाश एक दूसरे अवकाश में रहता है, और वह एक दूसरे में। इस तरह अनवस्था दोष आ जाएगा।

इसी प्रकार यह हमें मानना चाहिए कि एक शरीर अवकाश में गति कर रहा है। एक विशेष अवकाश में से गुज़रने के लिए यह उस अवकाश के आधे भाग में से अवश्य गुज़रा होगा, और इस आधे में से गुज़रने के लिए उस के आधे भाग में से अवश्य गुज़रा होगा, इस तरह अनवस्था दोष आ जाएगा। संक्षेप में शरीर वास्तव में कहीं नहीं जा सकता, अतः गति असंभव है।*

'सब' (इस 'सब' में अवकाश भी सम्मिलित है) के मूल में अवकाश को मानना प्रौढिवाद है। और इस कल्पना के आधार पर अनवस्था दोष मानाना और भी अधिक प्रौढिवाद और निराधार है। यह युक्ति ऐसी है कि जैसे कोई कहे कि सभी मकानों की बुनियाद (नींव) होती है, इसलिए हमें अवश्य मानना चाहिए कि यह नींव एक दूसरी नींव पर आश्रित है, और वह दूसरी पर। इस प्रकार अनवस्था हो जाएगी।

इसी प्रकार गति का इनकार भी अवकाशविषयक अशुद्ध ज्ञान पर अवलम्बित है। अवकाशविषयक ऐसी धारणा जिससे गति की व्याख्या (समन्वय) न हो सके, अशुद्ध है या अधूरी

---

* पूर्वोद्धृत पुस्तक में दिया जैनों का मत

है, और संगति रखने के लिए उस में संशोधन की आवश्यकता है।

[३]

अरस्तू परमात्मा को आत्मज्ञ='अपने को जानने वाला' मानता है, क्योंकि परमेश्वर सर्वश्रेष्ठ को जान सकता है, अर्थात् अपने आप को जान सकता है *

इस युक्ति के विश्लेषण का फल इस प्रकार है—

परमात्मा का ज्ञान सर्वश्रेष्ठ है।

अर्थात् परमात्मा सर्वश्रेष्ठ को ही जानता है।

सर्वश्रेष्ठ परमात्मा है

परमात्मा आत्मज्ञ है

परमात्मा और कुछ नहीं जानता।

परमात्मा ही एक मात्र सत् है।

अद्वैतवाद सिद्ध हो गया।

इसमें अशुद्धि यह है कि 'सर्वश्रेष्ठ ज्ञान' का अर्थ 'सर्वश्रेष्ठ-विषयक ज्ञान नहीं वरन् सर्वश्रेष्ठ ज्ञान का अर्थ है सब से सच्चा ज्ञान, जिसमें भूल=भ्रम का कण भी न हो। निस्सन्देह परमात्मा का ज्ञान सर्वश्रेष्ठ है। किन्तु इसका अर्थ है कि उस का ज्ञान भूल से सर्वथा रहित है। ऐसे कुछ पदार्थ हैं जो उसकी अपेक्षा बहुत घटिया हैं, और उसे उनके संबन्ध में सर्वश्रेष्ठ ज्ञान है। उसे भूल का भी सर्वथा पूर्ण ज्ञान है। भूल=भ्रम के ज्ञान के कारण उसका ज्ञान भूलयुक्त या भ्रमपूर्ण नहीं हो जाता। पापी को पापी जानने से वह पापी नहीं हो जाता। अन्धकार को जानने के कारण वह अन्धकार नहीं बन जाता। यदि यह अशुद्धि आरंभ में ही भांप ली

---

* Joad कृत Matter life and value P. 38.

जाए, तो फिर परिणाम अद्वैतवाद कभी नहीं हो सकता।

[४]

श्री शङ्कराचार्य्य जी के सिद्धान्त का मूल Epistemological प्रमाणमूल द्वैत है, जो आज कल के यथार्थवादियों realists के नाना वादों से कुछ विशेष भेद नहीं रखता, उनका सिद्धान्त है कि ज्ञान विषय=ग्राह्य और विषयी=ग्राहक के बीच में एक संबन्ध है। और यह संबन्ध ग्राहक=विषयी द्वारा विषय=ग्राह्य की ज्ञातता=ज्ञान है। किन्तु न ग्राहक का ज्ञान, और न ही ग्राह्य जिस के विषय में ज्ञान हो रहा है, अपनी सत्ता के लिए एक दूसरे पर निर्भर है और न ही एक दूसरे में परिणत=परिवर्त्तित हो सकता है। किन्तु प्रत्यक्षरूप में श्री शङ्कराचार्य्य जी इस सादे यथार्थवाद को छोड़ देते हैं और यह प्रतिपादन करने का यत्न करते हैं कि ज्ञान में केवल विषय और विषयी (ग्राह्य और ग्राहक) परस्पर संबद्ध ही नहीं होते, **वरन् वे एक दूसरे के अनुकूल समतुल्य प्रवृत्ति वाले भी होते हैं।** यदि इनमें पारस्परिक अनुकूलता (समतुल्य-प्रवृत्तिता) न होती तो उन में ज्ञातृज्ञेयभाव कभी न हो सकता। यह अनुकूलता यादृच्छिक या आकस्मिक घटना नहीं मानी जा सकती है इस की व्याख्या यह मान कर हो सकती कि इसके दोनों परस्पर अनुकूलतया प्रवृत्ति वाले पदार्थ इन दोनों की अपेक्षा किसी अधिक मौलिक पदार्थ की सृष्टि=या प्रकाश हैं। यतः दोनों ही किसी अधिक अन्तिम तत्त्व की सृष्टि या विकास-रचना है, अतः इन में कोई संबन्ध है, जो उनके प्रतीयमान द्वैत=दोपन को भ्रान्त सिद्ध करता है। (यह तर्क विचित्र रूप से 'बिल्ली राजा के दर्शन में समर्थ है' वाक्य से बोध्य विषय

की प्रोफ़ेसर रोयसकृत व्याख्या का स्मरण दिला देती हैं) ।*

(५)

शङ्कराचार्य्य जी का मत है कि..........यद्यपि ब्रह्म स्वयं पूर्ण है, किन्तु पूर्णता उसमें समा नहीं सकती। वह अपने को प्रकट करने की इच्छा करता है। उसका आनन्द इतना महान्, है उसकी भद्रता इतनी पूर्ण कि वह आपे से बाहर हो जाता है। जैसे एक कलाकार सौन्दर्य्य से प्रेरित हुआ रचनाद्वारा अपना प्रकाश करने की बलवती इच्छा का अनुभव करता है इस प्रकार परमेश्वर भी सृष्टि रचना के लिए प्रेरित हुआ था, किसी दोष या त्रुटि के कारण नहीं वरन् अपनी पूर्णता और भद्रता के अतिशय के कारण उस में यह प्रवृत्ति हुई थी। यह विचार अफ़लातूं के ईसाई अनुयायिओं के विचार से मिलता है, जिनका विचार है कि परमेश्वर अपने से व्यतिरिक्त संसार में अपने अनादि प्रयोजन को इस प्रकार प्रकट कर रहा है कि उसे संसार की पूर्णता के लिए अपनी पूर्णता के वास्तविक अतिशय के अतिरिक्त किसी प्रकार की क्रिया की आवश्यकता नहीं है। यह विचार है तो प्रतिभाप्रसूत, किन्तु हमारी समस्या का पूरा पूरा समाधान नहीं करता। कलाकार केवल सृष्टि=रचना ही नहीं करता किन्तु वह एक माध्यम=साधनद्वारा रचना करता है और वह माध्यम उस की रचना से भिन्न होता है। यदि कोई भौतिक माध्यम=साधन न होता, तो कलाकार के भावों का प्रकाश न हो सकता। रचना=सृष्टि तो सदा किसी वस्तु में से की जाती

* जोडकृत Matter Life and Value, पृ० ४०, तथा वेदान्तदर्शन पर शांकर भाष्य का उपोद्घात।

है। भावों का प्रकाशन भी किसी और वस्तु में ही होता है। कम से कम कलाकार की रचना और भावप्रकाशन के सम्बन्ध में यह सर्वथा सत्य है। अतः यदि हमें कलाकार के आत्मप्रकाशन के भाव को दृष्टान्त के रूप में रखना है जिस से हम सृष्टि रचना के कार्य्य को समझ सकें, तो हमें विषयता का सिद्धान्त अंगीकार करना चाहिए। जो विषय परमात्मा से भिन्न हो और जिस पर अथवा जिसके द्वारा क्रिया करने से परमात्मा अपना प्रकाश करे। वास्तव में इसकी आवश्यकता का अनुभव श्रीशङ्कराचार्य्य जी को भी हुआ था और यह उन के ग्रन्थों में स्पष्ट है। और 'माया' को मानकर दूसरे भारतीय दार्शनिक भी इसकी आवश्यकता को स्वीकार करते हैं। यहां हमें इस बात का एक अच्छा उदाहरण मिल जाता है कि किस तरह एक दार्शनिक जो अद्वैत-वाद की सिद्धि में सदिच्छा से प्रवृत्त हुआ था कर्कश तर्क से विवश होकर द्वैतवाद का प्रतिपादन करने लगता है।*

(६)

"हिन्दुओं का विश्वास है कि आत्मा एक ऐसा चक्र है जिसका घेरा कहीं नहीं किन्तु जिसका केन्द्र शरीर में केन्द्रित है, और मृत्यु का अर्थ है इस केन्द्र का एक शरीर से दूसरे में परि-वर्तित हो जाना। यह आत्मा प्राकृत बन्धनों से भी बद्ध नहीं है। अपने वास्तविक स्वरूप में यह मुक्त, अबद्ध शुद्ध पवित्र और

---

* जोड कृत Malts Lcfl and Valul पृष्ठ ८ पर।

पूर्ण है। किन्तु किसी न किसी कारण यह अपने आप को प्रकृति से बद्ध अनुभव करता है और अपने आपको प्रकृति मानने लगता है।"

(१६ सितंबर १८६३ को शिकागों में सर्वधर्म्मसम्मेलन में 'हिन्दुत्व' पर पढ़ा गया श्रीस्वामी विवेकानन्द जी का निबन्ध।)

गौरवपूर्वक एक महान् बात कही गई है, किन्तु इसका ठीक ठीक भाव किसी की समझ में नहीं आता।

आओ, हम ऊपर के वाक्य के ठीक बाद में आने वाले लेखांश को पढ़ें—

"दूसरा प्रश्न यह है कि स्वतन्त्र (मुक्त) पूर्ण और शुद्ध आत्मा क्योंकर इस प्रकार प्रकृति की दासता में फंसता है? पूर्ण आत्मा को यह भ्रम कैसे हो सकता है कि वह अपूर्ण है? हमे कहा जाता है कि हिन्दू इस प्रश्न से कतराते हैं और कहते कि ऐसा प्रश्न नहीं हो सकता। कई दार्शनिक कई एक अर्धपूर्ण सत् पदार्थ मान कर इस प्रश्न का समाधान करने का यत्न करते हैं, और इस त्रुटि को पूर्ण करने के लिए मोटे मोटे दार्शनिक (वैज्ञानिक) शब्दों का प्रयोग करते हैं। किन्तु नाम से समाधान नहीं होता। प्रश्न तो वैसा ही बना रहता है। पूर्ण अर्धपूर्ण कैसे हो सकता है? शुद्ध निर्गुण अपने स्वभाव में परमाणु भर परिवर्त्तन कैसे कर सकता है? किन्तु हिन्दू सच्चा है। वह कुतर्क का आश्रय नहीं लेना चाहता। वह वीरों की भांति इस प्रश्न का सामना करता है और वीरतापूर्वक उत्तर देता है—

'मैं नहीं जानता। मैं नहीं जानता कि कैसे पूर्ण पुरुष-आत्मा अपने आप को अशुद्ध, प्रकृति से संयुक्त और प्रकृति से प्रभावित मानने लग पड़ा।' " (चिकाग में...... ..)

हमें वेदान्त सूत्रों में इसका समाधान मिलता है और सन्तोषजनक समाधान मिलता है। किन्तु यह सान्त (परिच्छिन्न) आत्माओं की पूर्णता को नहीं मानता। चूंकि स्वामी विवेकानन्द जी अद्वैतवादी है, अतः वे शब्दाडम्बर का सहारा लेते हैं।

(७)

किन्तु आत्मा शरीर किस वास्ते धारण करे ? इसी बात के लिए मैं अपने हाथ में दर्पण लेता हूं, इसी प्रकार शरीर के आत्मा प्रतिबिम्बित है। आत्मा परमात्मा (ब्रह्म) है और प्रत्येक मनुष्य में पूर्ण देवभाव=ब्रह्मभाव है, और हर एक मनुष्य शीघ्र या विलम्ब से अपने ब्रह्मभाव को अवश्य प्रकट करेगा।"

(३० दिसंबर १८९४ को ब्रुक्लिन इथिकल सोसायटी [आस्तिक समाज] में 'हिन्दू धर्म्म' पर श्रीस्वामी विवेकानन्द जी का व्याख्यान)

इस पर टीका टिप्पणी को कोई आवश्यकता नहीं, पाठक स्वयं ही इस दृष्टान्त की विवेचना करें।

[८]

वेदान्त तुम्हें सिखलाता है कि यह संसार एक दर्पणागार [जिस में सब ओर दर्पण लगे हों] के समान है। समस्त शरीर भिन्न भिन्न दर्पणों के समान हैं। और तुम्हारा वास्तविक आत्मा या शुद्ध स्वरूप सब ओर प्रतिबिम्बित हो रहा है जैसे कुत्ते ने चारों दीवारों से अपनी मूर्त्ति का प्रतिबिम्ब देखा, ठीक इसी प्रकार अनन्त आत्मा, अद्वितीय अनन्त ब्रह्म, अनन्त शक्ति, अपने आप को विविध दर्पणों में प्रतिम्बित करती है।*

---

* १० जनवरी १९०३ को सान फ्रांसिस्को के ग्रेट गोल्डनहाल में स्वामी रामतीर्थ जी का व्याख्यान।

अद्भुत दृष्टान्त! किन्तु क्या यह तर्क का प्रहार सह सकता है ?

[६]

संसार अद्भुतालय है। आप स्वप्नावस्था में एक भेड़िये को देखते हैं और आप को शंका होती है कि यह भेड़िया आपको खा जाएगा। इस से आप डर जाते हैं। किन्तु जिसे आप देखते हैं, वह भेड़िया नहीं है, वह तो स्वयं आप हो। इसी प्रकार वेदान्त आपको सिखाता है कि इस जाग्रद् दशा में भी 'आप स्वयं ही अपने मित्र या शत्रु हो।' **आप ही सूर्य्य हो और आप ही वह तालाब हो जिसमें सूर्य्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है। आप ही दीपक हो और आप ही पतङ्ग हो।***

स्थूलाक्षरों वाले वाक्यों की आलोचना हम पाठकों पर छोड़ते हैं। स्वप्नों के दृष्टान्तों के लिए सप्तम अध्याय देखिए।

---

* २२ दिसम्बर सन् १९०२ को सान् फ्रांसिस्को में श्री स्वामी रामतीर्थ जी का व्याख्यान।

त्रयोदश अध्याय

मेरा परमात्मा

पाठक शिकायत कर सकता है कि यह संपूर्ण पुस्तिका 'मैं' के वर्णन से भरपूर है, परमात्मा की यदि कहीं चर्चा है, तो प्रासंगिक है। लेखक इस अपराध को स्वीकार करता है। जानबूझ कर ऐसा किया गया है। इस वास्ते नहीं कि संसार में परमेश्वर की स्थिति गौण है। यह असंभव है, और इस सारी पुस्तिका में कोई भी ऐसा स्थल नहीं जहां से इस प्रकार की गन्ध भी आ सके। मेरा कहना यह है कि मैं परमेश्वर को अपने दृष्टिकोण से देखता हूं न कि परमात्मा के दृष्टिकोण से अपने को। यदि नरम शब्दों में कहना हो तो कह सकते हैं कि परमात्मा के दृष्टिकोण का ज्ञाता होने का अभिमान करने वाला एक व्यर्थ गप्पी है। जब तक "मैं" न हूं, मैं 'मेरा परमात्मा' कैसे कह सकता हूं। परमेश्वर के प्रति मुझे विशेष आकर्षण है, क्योंकि यह 'मेरा परमात्मा' है। मैं ऐसे परमात्मा की रत्ती भर भी परवा न करूं, जो न तो मुझे जानता है और न जिसे मेरे जानने की परवाह है। किन्तु मेरा विश्वास है कि ऐसा परमात्मा नहीं है। मैं यहां दाक्षिणात्य भक्त कवि श्री तुकाराम जी के कुछ अभंग उद्धृत करता हूं। वे कहते हैं—

हे देव! मेरे पतित होने से तू भाग्यवान् है। मैंने ही तुझे नाम और रूप दिया है। यदि मैं न होता, तो तुझ निराकार और अकेले को कौन पूछता ॥१॥

अन्धकार में ही दीपक की शोभा है। मोतियों की शोभा

(चमक) जुड़ने में है ॥२॥

रोग ने ही धन्वन्तरि (वैद्य) को चमकाया। स्वस्थ मनुष्य क्यों उस को पूछेगा ? ॥३॥

अमृत का मूल्य विष के गुणों के कारण है। पीतल और सुवर्ण का ऊंचनीचपन भी परस्पर सापेक्ष है ॥४॥

'तुका' कहता है, प्रभो, तू मुझे ऐसा जान कि जिसने तुझे देवपन दान दिया है।❀

इस में थोड़ी सी अभिमान की गन्ध है, परन्तु उस अभिमान की जो प्रेम और भक्ति की उपज है, उस अभिमान की जो प्रेममयी माता की गोद में खेलने वाला बच्चा दिखाया करता है। यह कैसा स्निग्ध और स्नेहमय है ! मैं परमात्मा को भूल जाने की अपेक्षा

❀ जेणे तुज जाले रूप आणि नांव।
पतित हे देव तुझे आम्ही।
नाही तरी तुज कोण ही पुसले।
निराकारी लथें एकाकी ॥१॥
अन्धकारे दीपका आणियेली शोभा।
माणिकासी प्रभा कोंदणाची ॥२॥
धन्वन्तरि रोगे आणिला उजेड़ा।
सुखी काय चाडा जाणावे तें ॥३॥
अमृतासी मोल विषाचिया गुणें।
पित्तळे तरी सोने उंच नीच ॥४॥
'तुका' म्हणे आम्ही असोनिया जाण।
तुज देवपण आणियेले ॥५॥

(तुकाराम के अभंग)

उस के साथ अभिमानपूर्ण व्यवहार करने को अच्छा मानता हूं। यह कितनी दयनीय दशा है कि परमात्मा के तुल्य या परमात्मा से अभिन्न होने के लिए मनुष्य अपने को भूल जाते हैं, और ऐसा होने का दावा करने लगते हैं, जो न वे हैं और न हो सकते हैं—यह अक्षम्य महत्त्वाकांक्षा का एक अंश है। ईश्वरपद की लालसा करना नास्तिकता है। मुझ से पूछो तो मैं उसकी पादपीठिका [पाँव रखने का पीढ़ा] होना अधिक पसन्द करता हूं, ताकि मैं पूर्ण नम्रता और विनय से उस की सेवा कर सकूं। मैं जानता हूं कि वह मुझे कभी नहीं भूलता है। परमात्मा और भूलना! असंभव। मैं उसका सब से अधिक प्यारा हूं। वह सब कुछ मेरे लिए बनाता है, अपने लिए कुछ भी नहीं रचता। यह सूर्य्य, यह चन्द्र और ये तारे—ये सब के सब उस ने मेरे लिए बनाए। यह कहना घोर नास्तिकता है कि इन वस्तुओं को रचकर वह अपनी महत्ता प्रकट करना चाहता था। शान्तं पापम्। वह स्वभाव से ही महान् है, महिमवान् है। ये बेचारे सूर्य्य या चन्द्र उसकी महत्ता को क्या बढ़ाएंगे? "वहां सूर्य्य नहीं चमकता न ही चन्द्र और तारे, न ही ये बिजलियां चमकती हैं, यह अग्नि तो कैसे चमक सकती है? उसके प्रकाश के अनुकूल ये चमकते हैं, उसके प्रकाश से ही सभी प्रकाशित होते हैं।"* यदि मैं ही न हूं तो मेरा परमात्मा इन सब को उत्पन्न करने

---

* न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भांति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥
(कठोपनिषत् २।५।)

का कष्ट क्यों करेगा ? जैसे मेरी माता ध्यान रखती है कि मैं भूखा न रह जाऊं, और अतएव वह मेरे लिए भोजन पकाती है। ठीक उसी प्रकार, वरन् उससे भी उत्तम रीति से, मेरे परमात्मा ने संसार के सब पदार्थ इस उद्देश्य से बनाए कि उन के बिना मैं विनष्ट न हो जाऊं (दु:ख न उठाऊं) "वह मेरा भाई, पिता तथा स्वामी है * । यह सब आलंकारिक भाषा है। उसे अपनी माता कहना भी एक [उपमा] अलंकार है। उसे पिता कहना भी [उपमा] अलङ्कार है। उसे भाई या सखा कहना भी [उपमा]अलङ्कार है। ये सब अलङ्कार [उपमाएं] त्रुटिपूर्ण हैं, हीन हैं। मैं अपने भाव प्रकाशित करने में असमर्थ हूं। कोई भी अपने भाव पूर्णतया प्रकट नहीं कर सकता। 'वाणी की वहां पहुंच [गति] नहीं + किन्तु मैं समर्थ हूं और करता भी हूं। यदि मैं अपने आप को सारी उपमाओं से बचा सकूं, तो मैं ऋग्वेद के स्वर में स्वर मिला कर गाऊं—

तू हमारा है

हम तेरे हैं =

इति।

* स नो बन्धुर्जनिता स विधाता। (यजुर्वेद ३२। १०)
+ न तत्र वाग् गच्छति (केनोपनिषत् १। ३।)
= त्वमस्माकं तव स्मसि (ऋ ८। ९२। ३२)

नवीन परिवर्धित संस्करण

जिसमें पहिले की अपेक्षा कई विशेषताएं कर दी गई हैं—

भक्ति दर्पण

दैनिक स्वाध्याय के लिए सुन्दर संग्रह है। इसके संपादन में आर्य समाज के कई प्रसिद्ध विद्वानों ने सहयोग दिया है। पारितोषिक तथा विवाह आदि शुभ अवसरों में भेंट की जाती है।

❀ भक्ति-दर्पण की विषय-सूचि ❀

जीवन की सफलता के साधन, नित्यकर्म, जीवन का समय-विभाग, चारों वर्ण, आश्रम, आर्य समाज के सिद्धान्त, नियम-उपनियम, आर्य समाज का काम और परिचय, वेदों का ज्ञान, उपवेद, वेदांग, ब्राह्मण, उपनिषद् आदि धर्म-शास्त्रों के विषय में पूरी जानकारी, आर्य-जीवन की प्राप्ति के लिये नियम, सोलह संस्कारों की व्याख्या, आर्यों के यज्ञ तथा पर्व, भजन, संध्या और हवन-विधि अर्थ और व्याख्या सहित, ईश्वर स्तुति, प्रार्थना, उपासना, स्वाध्याय की महिमा, स्वास्थ्य के नियम, योग के आसन, ऋषि दयानन्द के उपकार, विवाह के छन्द, शुद्धि की विधि, हैद्राबाद सत्याग्रह का पूरा इतिहास, धर्म के लक्षण, आर्य समाज का संक्षिप्त इतिहास आदि...आदि......।

इस संक्षिप्त विषय-सूचि से आप अनुमान लगा सकते हैं कि भक्ति-दर्पण आप और आप के परिवार के लिए कितना उपयोगी है। आर्य समाजों, कुमार सभाओं, पाठशालाओं तथा आर्य सभासदों को इसका प्रचार करना चाहिए।

सुनहरी कपड़े की जिल्द सहित दाम केवल बारह आना।

उर्दू में भी बारह आना।

घर बैठे

संस्कृत सीखने के लिये—

❀ संस्कृत स्वयं शिक्षक ❀

लेखक—वेदों के प्रसिद्ध विद्वान् श्रीपाद दामोदर सातवलेकर जी

पुस्तक का नाम ही बतला रहा है कि इस में क्या कुछ है। इसके पढ़ने से कोई भी हिन्दी जानने वाला बिना किसी पण्डित की सहायता के घर बैठे संस्कृत भाषा का ज्ञान पैदा कर सकता है। "संस्कृत स्वयं शिक्षक" की शैली की विशेषता इसी एक बात से सिद्ध होती है कि इसके प्रथम भाग के पढ़ने से कइयों की योग्यता संस्कृत में बातचीत करने तथा पत्र लिखने तक पहुँच चुकी है। श्री सातवलेकर जी संस्कृतके प्रसिद्ध विद्वान् हैं। आप ने वेदों का भी भाष्य किया है। इस पुस्तक में आप ने बड़ी ही सरल और वैज्ञानिक विधि से संस्कृत सिखाने की सफल चेष्टा की है। हमारा दावा है कि आप एक बार इन तीनों भागों को ध्यान से पढ़ जावें तो निश्चय आप संस्कृत लिख तथा असानी से बोल सकेंगे। इस पुस्तक की पञ्जाब टेक्सट बुक कमेटी, महाराजा साहब बड़ौदा, प्रिंसिपल सिन्ध नैशनल कालेज और कई स्कूल इन्स्पेक्टरों ने ज़ोरदार सिफारिश की है। महात्मा गांधी जी ने इस पुस्तक की शैली को बहुत पसन्द किया है। पुस्तक तीन भागों में विभक्त है। तीनों भागों के छः छः सात-सात संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। प्रत्येक भाग का मूल्य एक रुपया चार आना

———